सत्यार्थ-दर्पण

अर्थात्

सत्यार्थप्रकाशके १२ वें समुल्लास पर विचार ।

शान्ति और प्रेमके साथ अवलोकन
और विचार कीजिये ।

"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः"

आद्य वक्तव्य।

प्यारे न्यायनिष्ठ आर्य महाशयो! सत्यार्थ प्रकाशके १२ वें समुल्लासका सच्चा समाचार आप लोगोंके समक्ष रखनेका विचार मेरे हृदयमें पहलेसे था, किन्तु उस भावनाका अब तक प्रादुर्भावक निमित्त नहीं उपलब्ध हुआ था। यह जान कर कि मथुरामें दयानन्द शताब्दी का आर्य-महोत्सव समारोहसे होने वाला है, अवसर अनुकूल देख तथा सौभाग्यशाली, उपकार-रत श्रीमान् ला० देवीसहायजी रईस बैंकर, फीरोजपुर छावनीकी प्रेरणा पा कर आपके नेत्रों तक अपना हृदयभाव पहुंचानेके लिये ये कुछ पंक्तियां लिखकर तयार की हैं। आपके महोत्सव समाचारसे अज्ञात रहनेके कारण यह केवल ३०-४० दिनके परिश्रम का फल है, अतः प्रमाणमें उपस्थित किये गये ग्रन्थोंके पृष्ठ आदिका नंबर देने आदिमें अशुद्धि रह जाना संभव है; आप उस पर ध्यान न देवें, ऐसी प्रार्थना है।

संसारमें मानव-जीवनका सार तथा बुद्धिका उपयोग यही है कि इह लोक-परलोक-बन्धु धर्मकी सत्यता खोज कर सत्य धर्ममें प्रवेश करे तथा यदि अपनी सत्य बातपर किसीने भ्रमवश आक्षेप किया हो, तो उसे शान्ति और प्रेमके साथ हटानेका यत्न करे। इन्हीं दो बातो पर उद्देशानुसार आवश्यक प्रकाश डालनेके लिये यह पुस्तक लिखी गई है। आप लोग इसे प्रेम और धैर्यके साथ अवलोकन करें। यदि किसी विषयमें मेरी भूल जान पड़े, तो सूचित करें; उचित उपाय किया जायगा। इस पुस्तक-लेखनका अभिप्राय आर्यसमाजके सिद्धांतों पर आक्रमण करना नहीं है किन्तु सत्यार्थप्रकाशके बारहवें समुल्लासके अन्दर स्वामीजीने जो विना जैनधर्मके परिचयके जैनधर्मके ऊपर असत्य आक्षेप किये है, उनका उत्तर प्रेमवश देना है।

पुस्तकके लिखनेमें मूल उत्पादक सहायता तो श्रीमान् नररत्न ला० देवीसहायजी रईस फीरोजपुरकी है। तदनंतर प्रशंसनीय सहायता यहां (डेरागाज़ीखान)-की आर्यसमाजके मन्त्री सज्जनोत्तम सत्यभूषण जी वकीलकी है-जिन्होंने हमको अपने पुस्तकालयमे वेद आदि अनेक ग्रंथ अवलोकनार्थ देनेका कष्ट स्वीकार किया है। इसके बाद श्रीमान् गण्य मान्य विद्वान् पं० वासुदेवजी विद्यालंकार (आपने कांगड़ी गुरुकुलमें २०-२१ वर्ष अध्ययन किया है)-का आभार माने विना भी नहीं रहा जाता; क्योंकि आपने वेदादि विषयक अनेक ज्ञातव्य विषयोंमें सहायता प्रदान कर अनुगृहीत किया है।

विनयविनत—
अजितकुमार जैन.

सत्यार्थ-दर्पण

सुध्यानमें लवलीन हो, जब घातिया चारों हने।
सर्वज्ञबोध, विरागताको, पालिया तब आपने॥
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य, निज सम कर लिये।
रवि-ज्ञान-किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये॥

प्रिय मित्र महाशयो! मुझे पूर्ण आशा है कि जिस प्रकार आप लोग नामसे 'आर्य' हैं, उसी प्रकार सत्य, असत्यके विवेककी खोजमें तथा लकीरके फकीर मार्गको छोड़कर सत्य बातको स्वीकार करनेमें भी सच्चे आर्य हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि आप लोग निष्पक्ष भावसे शांति और प्रेमके साथ सत्यार्थप्रकाशकी त्रुटियों पर विचार कर सकते हैं, एवं साथ ही मुझे ऐसा भी निश्चय है कि आप मेरे लिखे हुए इन चार अक्षरोंको प्रेमके साथ अवलोकन करेंगे। इसी कारण मैंने अपना मनोभाव आपके सामने रखनेके लिये अपना कुछ समय लगाया है तथा आप लोगोंको अपने अनमोल समयका कुछ हिस्सा इस पुस्तकके देखनेमें खर्च करनेके लिये कष्ट दिया है।

मान्यवर सज्जनो! आपके सन्मुख अपने विचार उपस्थित करनेके पहले मुझे आपसे यह प्रकट कर देना आवश्यक दीखता है कि मेरा लिखना आपके माननीय स्वामी दयानन्दजी सरस्वती रचित सत्यार्थप्रकाशके बारहवें समुल्लासके विषयमें होगा। जब कि प्रत्येक मनुष्यको किसी भी विषयमें अपने सत्य विचार प्रगट करनेका अधिकार है, तो निःसंदेह सत्यार्थप्रकाशके विषयमें उचित उल्लेख करनेका मेरा भी अधिकार आप अवश्य स्वीकार करेंगे।

विचारशील मित्रो! इस अभागे परतंत्र भारतवर्षमें यद्यपि यवन-

साम्राज्यसे पहले जमानेमें अनेक गणनीय ऋषि महर्षि, तात्विक विद्वान् और दार्शनिकोंने अवतार लेकर समय समय पर अच्छी जागृति की थी, किन्तु यवन-साम्राज्यके पीछे वह जागृति अस्तप्राय हो चुकी थी, उस समय इत्तफाके स्वामीजीका जन्म हुआ था। परिमित शक्तियोंका अधिकारी यह मनुष्य जब कि छोटे छोटे कार्योंमें भूल कर जाता है, तब एक गहन विशाल कार्यमें उससे कोई भूल हो जावे, इसमें कौन आश्चर्यकी बात है ? तदनुसार स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीसे भी किसी प्रकरणमें किसी कारणसे भूल हो सकती है, इस बातको माननेमें भी आपका निष्पक्ष हृदय गवाही देगा, ऐसी मुझे आशा है। स्वामीजीकी लेखनीसे बारहवें समुल्लासमें जैनधर्मके विषयमें जो कुछ भूल हुई है, उसको आपके समक्ष रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिस पर आप शांतिपूर्वक विचार करें।

विचारशील सज्जनो ! इस भारतवर्षमें अथवा इस भूमंडलमें अनेक दर्शनोंका अवतार हुआ है, जिनमेंसे वर्तमान समयमें कुछ जीवित दशामें एवं कुछ मृतप्राय दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इन दर्शनोंके साहित्यका यदि आपने अवलोकन किया हो अथवा अवलोकन करनेका कष्ट उठावेंगे तो आपको मालूम पड़ेगा कि जितना विशाल साहित्य जैनदर्शनका है, उतना विशाल अन्य किसी भी दर्शनका नहीं है। अपने मन्तव्यके प्रत्येक विषय पर जैनदार्शनिकोंने अनेक महान् ग्रंथोंकी मनोहर रचना इस ढंगसे की है, जिसकी समानताका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। यद्यपि विधर्मी दुराशय राजाओंने तथा राजशक्तिका सहारा पाये हुए अनेक अजैन विद्वानोंने हजारों ग्रंथोंका कलेवर अग्निके समर्पण कर दिया और सैकड़ों ग्रंथभण्डार आपत्ति समयमें अरक्षित रहनेके कारण अपने ग्रन्थरत्नोंको कृमिकीट सर्दी आदिसे न बचा सके, किन्तु फिर भी बचा हुआ जैनसाहित्य-साहित्य-संसारमें शिरोमणि हो रहा है, जैन ग्रन्थ जिस प्रकार दार्शनिक विषय पर हजारोंकी संख्यामें हैं, उसी प्रकार न्याय, व्याकरण, काव्य, वैद्यक,

ज्योतिष, गणित, मन्त्र, नीति, राजनीति आदि प्रत्येक विषय पर एकसे एक उत्तम अनूठे ग्रन्थ मौजूद हैं। इसी कारण जो विद्वान् जैनधर्मका परिचय प्राप्त करना चाहें, वह केवल २-१ ग्रन्थसे ही समूचे जैनधर्म की चीज नहीं निकाल सकते हैं। उन्हें जिस प्रकार कमसे कम १०-५ जैनग्रंथ देखनेकी आवश्यकता है, तदनुसार उनका अभिप्राय समझनेके लिये जैन विद्वानोंका सहारा लेना भी आवश्यक है; क्योंकि ऐसा किये बिना अनेक पारिभाषिक शब्दोंके विषयमें नियमसे भूल खानी पड़ती है। वह चाहे जैसे प्रतिभाशाली वैयाकरण और कवीश्वर क्यों न हो! इन्हीं दो कारणोंके अभावसे स्वामीजीको जैनधर्मका असली मर्म प्राप्त न हो सका। प्रथम तो उन्हें केवल श्वेताम्बर सम्प्रदायके ही ग्रन्थ प्राप्त हुए और फिर वे भी सिर्फ दो, प्रकरणरत्नाकर तथा रत्नसार। अब विचारिये, इतने मात्रसे जैनधर्मकी क्या वास्तविक समालोचना हो सकती है। स्वामीजी यदि दिगम्बर सम्प्रदायके भी १०-५ ग्रंथ देख पाते, तो संभव था उन्हें जैनमतके विषयमें इस प्रकार लेखनी नहीं चलानी पड़ती। स्वामीजीके इस आक्षेपका हमें कोई आधार नहीं मिलता है, कि जैनी लोग अपने ग्रंथ अजैन विद्वानोंको नहीं दिखाना चाहते। जो अजैन विद्वान जैनग्रन्थको देखना चाहें, उनके लिये सदा खुला दरवाजा है; बड़े शौकसे आकर देख सकते हैं। अस्तु.

इस पुस्तकमें जो सत्यार्थप्रकाशके पृष्ठ आदि उल्लिखित हैं, वे १६-वें एडीशन (संस्करण)-के सत्यार्थप्रकाशके हैं।

जैनधर्मको नास्तिक कहना वज्र-भूल है।

(१)

प्रियवर महानुभावो! आप लोगोंने यदि जैनशास्त्रोंका अवलोकन न भी किया हो, तो भी आपको जैनोंके रहन-सहनसे इतना तो अवश्य ज्ञात होगा कि जैन लोग प्रायः अपने जीवनको पाप कृत्योंसे

बचानेके लिये सदैव सचेत रहते हैं। अहिंसाधर्मको प्राणपणसे निभाने-का उद्यम करते हैं, मांसभक्षण, मदिरापान आदि दुराचारोंसे उनकी आत्मा पूर्ण विरक्त रहती है ; क्योंकि वे इन कार्योंके करनेसे परलोकमें दीन हीन जीवनका प्राप्त होना मानते हैं। पाप कर्मोंसे छुटकारा पा कर पुण्यलाभके लिये वे अपने पूज्य परमात्माका तथा गुरुका पूजन सत्कार भी करते हैं। इनका सदाचार, आहार विहार अन्य जनताके सन्मुख प्रायः महत्व-पूर्ण रहता है। जैनजनसमुदायका आचरण देखते हुए कोई भी बुद्धिमान पुरुष उन्हें नास्तिक कहनेके लिये तयार नहीं हो सकता। किन्तु हमको खेद है कि स्वामी दयानन्दजीने ऐसी भारी भूल क्यों की, कि जैनधर्मको उन्होंने सत्यार्थप्रकाशमें नास्तिक धर्म लिख डाला ! यद्यपि उन्होंने उसे नास्तिक कह देनेका कुछ कारण नहीं दिखाया है। किन्तु फिर भी हम उनके इस भ्रमको अनेक तरहसे असत्य ठहराते हैं। प्रथम ही व्याकरणके अनुसार विचार कीजिये कि व्याकरण-प्रणेता विद्वान नास्तिक शब्दको किस वाच्यके लिये तयार करते हैं,—

पुरातन वैयाकरण श्रीशाकटायनाचार्यजी इस शब्दकी सिद्धिके लिये शाकटायनव्याकरणमें सूत्र लिखते हैं-

(३।२।६१) इस सूत्रके ऊपर वृत्तिकारकी श्रीअभयचन्द्रजी सूरिने वृत्ति इस प्रकार की

अर्थात्—परलोक, पुण्य-पाप आदि हैं, ऐसे विचारवाला पुरुष आस्तिक और उससे विपरीत माननेवाला मनुष्य नास्तिक है।

पाणिनीय व्याकरणके जन्मदाता श्री पाणिनिआचार्य इस शब्दके लिये "अस्तिनास्ति दिष्टं मतिः" (४।४।६०) ऐसा सूत्र बनाते हैं। कौमुदीकार श्री भट्टोजिदीक्षितने इस सूत्रकी वृत्ति यों लिखी है—"तदस्येत्येव। अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः। नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।" यानी परलोकको माननेवाला पुरुष आस्तिक और परलोकको न माननेवाला नास्तिक होता है।

हेम-व्याकरणके रचयिता हेमचन्द्राचार्य इस शब्दको व्युत्पन्न करनेके लिये ऐसा लिखते हैं—"नास्तिकास्तिकदैष्टिकम् (६।४।६६) वृत्ति—एते शब्दास्तदस्येत्यास्मिन् विषये इकण् प्रत्ययान्ता निपात्यंते। निपातनं रूढ्यर्थम्। नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य नास्तिकः। अस्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा आस्तिकः।" यानी परलोक और पुण्य-पापका अस्तित्व स्वीकार करनेवाला पुरुष आस्तिक कहा जाता है, और इस बातको न माननेवाला पुरुष नास्तिक होता है।

शब्दसिद्धिके विधाता वैयाकरण विद्वान् जब कि ऊपर लिखे तौरसे अपना अभिप्राय प्रगट करते हैं, तब हमें जैनधर्मको नास्तिक पुकारनेका कोई कारण नहीं दीख पड़ता है; क्योंकि जैनधर्मने पुण्य पाप तथा परलोकके सिद्धान्तको बडे विस्तारके साथ माना है। इसलिये व्याकरणके अनुसार जैनधर्म आस्तिक ठहरता है। अब कोषकारोंकी सम्मति भी देखना उचित है।

तब शब्दस्तोममहानिधि इन दोनों शब्दोंके विषयमें यों कहता है कि "आस्तिक त्रि०। परलोक इति मतिर्यस्य ठक्। परलोकास्तित्ववादिनि। पृष्ठ १८५। नास्तिक त्रि० नास्ति परलोकस्तत्साधनमदृष्टम्-तत्साक्षीश्वरो वा इति मतिरस्य ठक्। परलोकाभाववादिनि तत्साधनादृष्टाभाववादिनि तत्साक्षिण ईश्वरस्यासत्ववादिनि चार्वाकादौ। पृष्ठ ६३४। भावार्थ—परलोक-स्वर्ग-नरक आदिको माननेवाला आस्तिक है और परलोकको उसके कारणभूत पुण्य पापको और उसके साक्षी ईश्वरकी सत्ता न माननेवाला नास्तिक कहलाता है। जैसे—चार्वाक आदि।

अभिधानचिन्तामणिमें नास्तिक शब्दके पर्याय नाम इस तरह बतलाये हैं "बार्हस्पत्यः,नास्तिकः, चार्वाकः, लौकायतिकः इति तन्नामानि।" (काण्ड ३ श्लोक ५२६) अर्थात्—बार्हस्पत्य, नास्तिक, चार्वाक और लौकायतिक ये चार नाम नास्तिकके हैं।

इस प्रकार शाब्दिक कोषोंके प्रमाण भी जैनधर्मको नास्तिक न बतला कर केवल चार्वाक मतको ही नास्तिक ठहराते हैं।

इसीकी पुष्टिमें एक विद्वान् ऐसा कहते हैं—

लोकायता वदन्त्येवं नास्ति जीवो न निर्वृतिः।
धर्माधर्मौ न विद्यन्ते न फलं पुण्यपापयोः॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भष्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥
एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।

यानी—चार्वाक लोग यों कहते हैं कि संसारमें न तो जीव कोई पदार्थ है और न मोक्ष ही कोई वस्तु है। धर्म अधर्म और उनके फलरूप पुण्य पाप भी कुछ नहीं हैं। इस कारण जब तक जीवन है तब तक खूब आनन्द उड़ाओ, भले ही उधार ले ले कर घी पीते रहो; क्योंकि भष्मीभूत शरीरको फिर ये पाता नहीं है। जो कुछ हमें इन्द्रियोंसे अनुभवमें आ रहा है लोक इतना ही है। अन्य नहीं।

मित्रो! नास्तिक मतका यह सिद्धान्त जैनधर्मको सर्वथा अमान्य है। जैनधर्म जीव, पुण्य, पाप, मोक्ष, परलोक आदि सब बातोंको बहुत प्रमाणिकताके साथ मानता है। जैनधर्मानुयायियों धर्म कर्म सम्बन्धी प्रायः सभी कार्य परलोक सुधारके लिये ही हुआ करते हैं। अतः जैनधर्म नास्तिक कदापि नहीं कहा जा सकता।

दार्शनिकोंके कथनानुसार भी नास्तिकमत चार्वाकका ही है, किसी भी दार्शनिक विद्वानने जैनधर्मको नास्तिक नहीं लिखा है। स्वयं जैन-विद्वानोंने प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्रोदय, अष्टसहस्री आदि ग्रंथोंमें नास्तिक मतका बहुत युक्तिपूर्वक खंडन किया है। इस कारण यों भी स्वामीजी जैनधर्मको नास्तिक बतलानेमें असमर्थ हैं।

यदि ईश्वरको सृष्टिकर्ता न माननेके कारण स्वामीजीने जैनधर्मको नास्तिक लिखनेका कष्ट उठाया हो, तो प्रथम तो इस उद्देशसे जैनधर्मको नास्तिक ठहराना पूर्ण निरंकुशता है, क्योंकि नास्तिक शब्द योगसे अथवा रूढिसे उसका वाचक नहीं ठहरता है। फिर भी यदि कुछ

देरके लिये ऐसा भी मान लिया जाय तो भी इससे स्वामीजीका मनोरथ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस सत्यार्थप्रकाशकी नींव जमानेके लिये स्वामीजीने सांख्यदर्शनसे भारी सहायता ली है उस दर्शनके प्रणेता महर्षि कपिल जैनधर्मसे भी ४ पग आगे बढ़ते हुए ईश्वरकी भी सत्ता नहीं मानते हैं। अतः वे महानास्तिक ठहरेंगे। वेदान्तदर्शनादि भी ईश्वरवादी नहीं हैं, अतः वे भी नास्तिक कहे जाने चाहिये; किंतु उन्हें न तो स्वामीजीने नास्तिक बतलाया है और न किसी और विद्वानने ही उन्हें नास्तिक कहा है। जब कि इनके साथ यह बात है, तो फिर स्वामीजी जैनधर्मको भी इस कारणका सहारा लेकर नास्तिक कैसे कह सकते हैं? ईश्वर इस संसारका कर्ता हो सकता है या नहीं? जैनधर्मका मन्तव्य सत्य है या असत्य? इस विषयका आगे विचार किया जायगा। इस कारण इस निमित्तसे भी स्वामीजी असत्य ठहरते हैं।

कदाचित् मनुस्मृतिके "नास्तिको वेदनिन्दकः" इस वाक्यको ध्यानमें रखकर जैनधर्मको नास्तिक लिख बैठे हों तो भी स्वामीजीने गलती हुई, क्योंकि प्रथम तो वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है सो जैनधर्म ज्ञानकी निन्दा करता नहीं है प्रत्युत वह प्रथमानुयोग, करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार वेदोंको बड़े आदरसे मानता है। यदि स्वामीजीने वेदका अर्थ ऋक्, यजुः, साम, अथर्व ही माना हो तो भी स्वामीजीने अपना घर विना देखे जैनधर्मको नास्तिक कह दिया; क्योंकि इस परिभाषाके अनुसार जितने भी वेदानुयायी हैं वे सभी नास्तिक ठहरते हैं, क्योंकि वे सभी वेदोंके महानिन्दक हैं। एकवेदी लोग ऋग्वेदके सिवाय अन्य समस्त वेदोंकी, द्विवेदी लोग सामवेद अथर्ववेदकी और त्रिवेदी सम्प्रदाय अथर्ववेदको अमान्य करके उनकी निन्दा करते हैं। स्वामीजी सायण, महीधरभाष्यानुयायियोंकी और तदनुयायी स्वामीजीके भाष्यकी घोर निन्दा करते हैं। पारस्परिक वेदार्थनिन्दाका ही यह उदाहरण है कि वेदोंकी सैकड़ों हजारों शाखाएँ

चल पड़ीं जिससे कि यह निर्णय करना असंभव है कि किस संप्रदाय का कहना असत्य है और किसका गलत जिन मदिरापान, मांसभक्षण, गोवध, अश्वबध, नरवध, द्यूतक्रीड़ा आदि बातोंको निन्द्य अधमकृत्य समझा जाता है उन बातोंका विधान वेदोंमें पाया जाता है, जिसको कि स्वामीजी भी अपने भाष्यमें अनेकत्र लिख गये हैं, मारण, उच्चाटन, परस्त्रीहरण आदिके मंत्र वेदोंमें मौजूद हैं। क्या ऐसी गंदी निन्द्य बातों पर प्रकाश डालनेवाले वेद बुद्धिमानों के लिये मान्य होने चाहिये! स्वयं मनुजी मनुस्मृतिमें ऐसा लिखते हैं—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ॥
(अध्याय ५ श्लोक ४४)

यानी—इस चराचर जगत्में जो वेदोंद्वारा हिंसा बतलाई है, उस हिंसाको अहिंसा ही समझना चाहिये; क्योंकि धर्म वेदसे ही प्रगट हुआ है।

पाठक महाशयो! देख लीजिये मनुजी वेदोंमें हिंसाकृत्य बतला कर वेदोंकी कैसी अच्छी प्रशंसा कर रहे हैं। इत्यादि। इस तरह जब देखा जाता है तो कोई किसी रूपमें और कोई किसी रूपमें वेदोंकी निन्दा करता हुआ पाया जाता है। कोई भी पुरुष या सम्प्रदाय ऐसा नहीं मिलता जो कि वेदोंकी निंदा न करता हो, इस कारण उपर्युक्त वाक्यका अर्थ "को वेदनिन्दकः नास्ति" यानी—इस संसारमें वेदोंका निन्दक कौन नहीं हैं अर्थात् सभी हैं, ऐसा अर्थ करना पड़ता है। तथा जैनधर्मने वेदोंको क्यों नहीं माना है इसका खुलासा आगे किया जायगा।

अतः स्वामीजी इस बहानेसे भी जैनधर्म पर **नास्तिक** शब्दकी वाच्यता नहीं घटित कर सकते हैं। आप महाशयोंको यह बात सदा स्मरण रखना चाहिये कि जैनधर्ममें ऐसी कोई भी निन्द्य कलंकित

बात नहीं है जिसके कारण कोई उसे नास्तिक मत ठहरा सके। न मालूम फिर भी स्वामीजीने इतनी भारी भूल क्यों कर डाली ?

इस विषयमें भारतवर्षके प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राजा शिवप्रसाद जी सतारेहिन्द लेखक इतिहासतिमिरनाशक अपने पत्रमें लिखते हैं कि "चार्वाक (नास्तिक) और जैनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है जैनको चार्वाक कहना ऐसा है जैसा स्वामी दयानन्दजीको मुसलमान कहना है।"

इस कारण मित्रो ! चाहे जिस प्रकार विचारिये, जैनधर्मको नास्तिक करार देना अयुक्तसिद्ध होता है। फिर स्वामीजी प्रारम्भमें ही ऐसी वज्रभूल कर गये इसका आश्चर्य और खेद है।

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है।

(२)

जैनधर्मका सिद्धान्त है कि यह संसार अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा, अर्थात् इसके प्रारम्भका और अन्त होनेका कोई भी समय नहीं है। इस प्रकार इसका कर्ता हर्ता कोई भी नहीं हो सकता। जो पदार्थ इसके अन्दर मौजूद हैं वे न तो किसी खास समयमें पैदा ही हुए थे और न किसी समयमें उनकी सत्ता ही मिट सकती है। हां ! कारणोंके अनुसार उनकी हालतें अवश्य बदलती रहती हैं।

जैनधर्मके सिवाय प्रायः अन्य सभी धर्म जो कि ईश्वरको मानते हैं, ईश्वरको इस सृष्टिका बनानेवाला बतलाते हैं। इस मतभेदके कारण यद्यपि समय समय पर जैनधर्मको अनेक आपत्तियोंका सामना करना पड़ा है, किन्तु फिर भी इसने अपने अटल सिद्धान्तको जो नहीं छोड़ा है यह उसके लिये महत्वदायक विषय है। अस्तु। स्वामी दया-नन्दजीने अन्य धर्मोंके समान इस सृष्टिका रचयिता ईश्वरको स्वीकार किया है जिसका विस्तृत उल्लेख उन्होंने सत्यार्थप्रकाशमें

आठवें समुल्लासमें किया है तथा बारहवें समुल्लासमें भी उन्होंने कई स्थानोंपर ईश्वरको सृष्टिकर्ता न मानना जैनधर्मकी खास मूल बतलानेकी चेष्टा की है। इस विषयमें स्वामीजीका लिखना सच है? अथवा जैनधर्मका मानना यथार्थ है? इस विषयको हम आपके सामने रखते हैं। आप उस पर पूर्ण विचार करें।

कर्त्तावादियोंका एवं स्वामीजीका इस विषयमें यह कहना है कि यह पृथ्वी, पहाड़, सूर्य, वृक्ष आदिस्वरूप जगत् किसी बुद्धिमान कर्ता ने बनाया है, क्योंकि यह जगत; कार्यरूप है, जैसे कि वस्त्र, घड़ा, घड़ी वगैरह पदार्थ। और चूँकि इस विश्व जगतको बनानेकी शक्ति किसी अन्य बुद्धिमानमें है नहीं, अतः इसका बनानेवाला सर्वशक्तिमान ईश्वर है, जो कि निराकार, सर्वव्यापक, अशरीर, आनंदस्वरूप, सर्वज्ञ, दयालु और न्यायकारी है। इसके सिवाय स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशके २१८वें पृष्ठ पर जगतके उपादान कारण प्रकृतिको और ईश्वरको तथा जीवको अनादि बतलाया है।

अब हम स्वामीजीके इस अभिप्रायका कई तरहसे निराकरण करते हैं। प्रथम ही न्यायके अनुसार लीजिये—

सबसे पहले तो ऊपरके अनुमानमें असिद्ध दोष आता है, क्योंकि सूर्य, चन्द्र, नदी, जंगल आदि पदार्थ आकाशके समान अनादिकाल से चलेआ रहे हैं; किसी भी प्रकार इनका किसी विशेष समयमें बन कर तयार होना सिद्ध नहीं होता है, अतः उनमें कार्यत्व हेतुका अभाव है।

जो कार्य होते हैं वे सशरीर कर्ताके बनाये हुए होते हैं, जैसे घड़ी, मेज, वगैरहके बनानेवाले बढ़ई आदि। इसलिये जब पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य हैं तो उनका बनानेवाला भी सशरीर ही होना चाहिये इस कार्यत्व हेतुकी व्याप्ति (अविनाभाव संबन्ध) अशरीर ईश्वरके विरुद्ध सशरीर पुरुषके साथ सिद्ध होनेसे विरुद्ध दोष आता है।

जल बरसना, घास उगना, भूकम्प होना आदि कार्य तो हैं किन्तु

उनका कोई बुद्धिमान कर्ता सिद्ध नहीं होता, इसलिये कार्यत्व विपक्षमें भी रहनेसे व्यभिचारी दोष आता है।

घास उत्पन्न होना आदि कार्य किसी कर्ताके बनाए हुए नहीं हैं; क्योंकि उनका बनानेवाला कोई भी शरीरधारी पुरुष नहीं है। इस अनुमान द्वारा कार्यत्व हेतुकी बाधा तयार है; अतः अकिंचित्कर दोष आता है।

दूसरे प्रकारसे यों विचारिये—

ईश्वरने जगतको नहीं बनाया, क्योंकि यह हलन चलन आदि क्रियासे शून्य है। जो किसी पदार्थका बनानेवाला होता है वह क्रिया सहित होता है। ईश्वर क्रियारहित है, क्योंकि वह सर्वव्यापक है। जो सर्वव्यापक होता है उसमें हलन चलन आदि क्रिया नहीं हो सकती है; जैसे—आकाश।

ईश्वर जगतका कर्ता नहीं, क्योंकि वह निर्विकार है। जो किसी चीजको बनाता है वह विकारवाला अवश्य होता है जैसे, जुलाहा आदि। ईश्वर जगतको नहीं बना सकता क्योंकि वह निराकार है। निराकार कर्तासे कोई साकार पदार्थ नहीं बन सकता; जैसे आकाशसे। सर्वज्ञाता ईश्वर इस संसारका रचनेवाला नहीं है, क्योंकि नास्तिक लोग, बकरीके गलेमें थन, गुलाबके पेड़में कांटे बनाना तथा सोनेमें सुगन्ध न रखना, गन्ने पर फल, चंदन पर पुष्पका न होना सर्वज्ञ कर्ताका काम नहीं है। दयालु ईश्वर सृष्टिका रचयिता नहीं हो सकता है, क्योंकि दीन हीन निर्बल प्राणियोंको दुःख पहुंचानेवाले दुष्ट लोग सर्प, सिंह, बाघ आदि जीव संसारमें दीख पड़ते हैं, ईश्वर यदि दयालु होता तो ऐसा कभी न करता। सर्वशक्तिमान ईश्वर संसारका निर्माता नहीं है, क्योंकि संसारमें अनेक अत्याचार, अन्याय और उनके करने वाले जीव दीख पड़ते हैं, यदि सर्वशक्तिमान ईश्वर संसारको बनाता तो ऐसा कभी न होने देता। आनंदस्वरूप ईश्वर जगतका बनानेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि वह पूर्ण आनंदस्वरूप है; जो पूर्ण आनंदस्वरूप

होता है उसे किसी कार्यके करने धरने हरनेसे क्या काम ? अर्थात् कुछ नहीं ; जैसे—मुक्त जीव।

इत्यादि अनेक प्रकारसे न्यायद्वारा ईश्वरका सृष्टिको बनाना असत्य सिद्ध होता है। अब दूसरे प्रकारसे इसी विषयको विचारिये—

ईश्वरने जब कि संसारको बनाया तो ईश्वरको किसने बनाया ? क्योंकि जिस प्रकार संसारको कार्य माना जाता है उसी प्रकार ईश्वरको भी क्यों नहीं ? इसका उत्तर यदि यह दिया जाय कि ईश्वरको किसीने नहीं बनाया तो आपके लिये भी यह उत्तर काफी है कि उसी प्रकार जगतको भी किसीने नहीं बनाया। ईश्वरके समान अनादिनिधन है। यदि सत्यार्थप्रकाशके २२६वें पृष्ठ पर लिखा हुआ "मूले-मूलाभावादमूलं मूलं" अध्याय १ सूत्र ६७ सांख्यसूत्र यानी कारणका कारण नहीं होता है ; यह स्वामीजीका उत्तर माना जाय तो भी ठीक नहीं क्योंकि यह नियम केवल उपादन कारणके लिये है। तदनुसार परमाणु रूप प्रकृतिका कोई अन्य कारण नहीं हो सकता। किन्तु निमित्त कारणरूप ईश्वरकी उत्पत्तिके लिये तो कारण होना आवश्यक है ; जैसे—घड़ेके निमित्त कारण कुम्हार, कुम्हारके कारण उसके माता पिता। इसलिये या तो ईश्वरको उत्पन्न करनेवाला कोई कारण होना चाहिये अथवा जीव और प्रकृतिके समान इस सृष्टिको अनादि मानना आवश्यक है।

अब यों भी जरा विचार कीजिये कि ईश्वरने अलग अलग परमाणुरूप प्रकृतिसे ये सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि किस प्रकार बना कर तयार किये ? (स्वामीजीने इस बातका कहीं भी खुलासा नहीं किया है) संसारमें हम देखते हैं कि जब कोई मनुष्य किसी पदार्थको बनाता है तो वह अपने ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नसे ही उसे बनाता है। उसी प्रकार ईश्वरने जब सृष्टिको बनाया तब उसने उन परमाणुओंको केवल ज्ञानमात्रसे ही जुड़ा दिया ? या इच्छासे जुड़ाया ? पहला पक्ष

तो असत्य है क्योंकि कोई भी कर्ता सिर्फ ज्ञानके जरिये से ही कोई पदार्थ तयार नहीं कर सकता फिर ईश्वरका भी ज्ञानसे परमाणुओंका संयोग करा देना कैसे संभव हो सकता है! यदि वह इच्छा से जगत बनाता है तब एक तो यहां यह प्रश्न है कि वह इच्छा निर्विकार ईश्वरके क्यों कर उत्पन्न हुई इच्छा विकारवाले अनित्य पुरुष के ही उत्पन्न हो सकती है इस शंकाका कुछ भी उत्तर नहीं; किन्तु फिर भी इच्छासे सृष्टिका बनाना कठिन है क्योंकि ज्ञानशून्य जड़ परमाणु ईश्वरकी इच्छाको क्या समझें? । फिर क्या ईश्वरने उन्हें मिलजानेके लिये हुक्म चलाया? किन्तु अशरीर ईश्वर कैसे तो हुक्म दे? और ज्ञान, कान रहित परमाणु कैसे उसके हुक्मको सुनें और समझें। ऐसी आपत्ति खड़ी होने पर ईश्वर सृष्टिको कैसे बना पावे? । विना शरीरके सृष्टि रचनेका प्रयत्न होना असंभव है। इसलिये यहां दो ही मार्ग दीखते हैं। या तो परमात्माके हाथ-पैर मान लिये जांय; जिससे वह परमाणुओंको पकड़ पकड़ कर मिलाता हुआ सृष्टि खड़ी कर दे क्योंकि इसके विना सर्वव्यापक अशरीरके किसी भी प्रकार सृष्टी रचनेका प्रयत्न नहीं हो सकता। अथवा परमाणुओंका अपने आप आपसमें मिल जाना मान लिया जाय तब फिर इस दूसरी दशामें फिर ईश्वरने क्या किया? यानी कुछ नहीं किया। इस समस्त समस्याको आप विचारेंगे तो आप स्वयं उत्तर देंगे कि ईश्वर सृष्टि-कर्ता नहीं हो सकता है।

सत्यार्थप्रकाशके २१६ वें पृष्ठ पर सत्वरजस्तमसांसाम्यावस्थाप्रकृतिः इत्यादि सांख्य-सूत्रके प्रथम अध्यायका ६१ वां सूत्र लिखकर सांख्य मतके समान सृष्टि रचनाको यों माना है कि "प्रकृतिसे महत्तत्व [बुद्धि] उससे अहङ्कार [अभिमान] उस अहंकारसे पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध ये पांच तन्मात्रा इस तरह १६ पदार्थ उत्पन्न हुए एवं पांच तन्मात्राओंसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पांच भूत उत्पन्न हुए।"

अब इसमें दो बातें विचारनी हैं, एक तो यह है कि आकाशको परमात्मा चौथी श्रेणी पर शब्दसे उत्पन्न करता है तो इससे सिद्ध हुआ कि प्रलय समयमें या सृष्टिके पहले आकाश नहीं था जैसा कि स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशके २३३ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "अहंकारसे भिन्न-भिन्न पांच सूक्ष्म-भूत और उन पांच तन्मात्राओंसे अनेक स्थूल अवस्थाओंको प्राप्त होते हुए क्रमसे पांच स्थूल-भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं।" तब वहां यह प्रश्न उठता है कि विना आकाशके चार अरब बतीस करोड़ वर्ष तक प्रलयकालमें समस्त जीव और प्रकृतिके सब परमाणु एवं ईश्वर किस स्थान पर ठहरते हैं ? जब कि विना आकाशके २-४ मिनिट भी कोई एक पदार्थ नहीं ठहर सकता, फिर यहां तो अनंत पदार्थोंके लिये अरबों वर्षों तक ठहरनेका स्थान चाहिये, क्योंकि आकाश रहा नहीं है वह चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष पीछे पैदा होगा और आकाशके विना ठहरनेको जगह देनेकी शक्ति स्वयं ईश्वरमें भी नहीं है। इसके साथ ही यह भी आपको विचारना आवश्यक है कि अमूर्तिक आकाशका कैसे तो प्रलय होवे और वह फिर शब्द द्वारा कैसे पैदा हो? क्योंकि शब्द परमाणुओंके पिंड से पैद होता है जैसा कि टेलीफोन, फोनोग्राफ तथा साइन्ससे सिद्ध है इन प्रश्नोंका उत्तर किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता है।

इसके सिवा दूसरी बात यह विचारनेकी है कि प्रकृति जो कि जडस्वरूप है, प्रलयकालमें परमाणुरूप होती है, उससे महत्तत्व यानी बुद्धि जो कि जीवका गुण है कैसे उत्पन्न हो सकती है ? जबकि प्रकृतिरूप उपादान कारण स्वयं जड है तो उसका कार्य महत्तत्व बुद्धिरूप होना नियमसे और विज्ञानसे असंभव है। स्वामीजीने सृष्टि-रचनाके लिये ऐसी असम्भव बातोंको न जाने क्यों लिखा ?

एवं—सत्यार्थप्रकाशके २३३ वें पृष्ठको पढ़कर आप और भी अधिक असम्भवता देखेंगे उसमें स्वामीजीने लिखा है कि "अहंकार

भिन्न भिन्न पांच भूत श्रोत्र (कान) त्वचा (चमडा) नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेइन्द्रियां। वाक्, (वचन) हस्त, (हाथ) पाद, (पैर) उपस्थ (लिंग) और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। उनसे (आकाशादि पांच भूतोंसे) नाना प्रकारकी औषधियां वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे शरीर होता है" अब विचार करो कि आंख, कान, नाक, चमड़ा, जीभ तथा हाथ, पांव, लिंग और मन तो पहले ही अहङ्कारसे बनकर तयार हो गये; किन्तु शरीर कभी तयार नहीं हुआ, वह वीर्यसे तयार होगा। वीर्य अन्नसे और अन्न वृक्षोंसे तथा वृक्ष पांचभूतोंसे तयार होंगे। क्या शरीरके बिना हाथ, पांव, आंख आदि अलग यों ही पड़ी रहीं और शरीर इन इन्द्रियोंके बगैर पैदा हुआ, जिसमें कि ये इन्द्रियां ईश्वरने चिपका दीं ? विचारिये कि शरीरके बिना क्या तो इन्द्रियां हो सकती हैं ? और इन्द्रियोंके बिना जिनमें कि हाथ पांव भी शामिल हैं क्या शरीर हो सकता है ? यह भी स्वामीजीने अच्छा नियमविरुद्ध असंभव सृष्टिरचनाका ढांचा लिख मारा इस पर खूब विचार कीजिये।

सृष्टि बनानेके लिये स्वामीजीने खास दलील यह पेश की है कि परमाणु जड़रूप हैं उनमें कुछ ज्ञान नहीं, वे आपसमें मिल कर सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। इसलिये उनको मिलाकर सृष्टि पैदा करने वाला ईश्वर मानना जरूरी है।

किंतु प्यारे दोस्तो! शांतिके साथ विचार करो कि संसारमें जड़ पदार्थ अपने आप क्या क्या अद्भुत कार्य कर लेते हैं। देखिये—जलको जिस समय गर्मी मिलती है तब वह भाप होकर ऊपर उड़ जाता है, वहां धुएँ आदिके साथ मिलकर बादलके रूपमें होता रहता है। फिर हवाकी ठंडक पाकर वेही बादल पानी होकर बरसने लगते हैं, शर्दीके दिनोंमें रात्रिके समय ओस और बर्फके रूपमें वही उड़ी हुई पानीकी भाप गिरती है, बादल आपसमें टकरा कर बिजली पैदा कर देते हैं।

जमीनके भीतर देखो कहीं विस्फोटक पदार्थोंसे अग्नि लग कर बड़ी बड़ी चट्टानें जल कर कोयलेके रूपमें हो जाती हैं। कहीं पर सोना कहीं पर चांदी कहीं पर कुछ और कहीं कुछ एक दूसरेके संयोगसे पैदा हो जाता है। इत्यादि परमाणुओंको जहां जैसा संयोग मिलता है वहां वैसा हो जाता है क्या ये सब बातें ईश्वर किया करता है? आकाशमें बादल, बिजली, जमीनके भीतर कहीं तो सोना, चांदी और कहीं आग है जिसके विस्फोटसे भूकम्प और शहरके शहर विध्वंस हो जाते हैं। जो देश ठंडे हैं वहां सदा ठंड ही रखना और जो गर्म हैं वहां गर्मी ही रखना क्या यह परमात्माका कार्य है? यदि है तो क्यों? कभी वैसी क्यों नहीं? हम देखते हैं कि बड़े बड़े रसवान मनुष्योंको जरासी शराब पागल कर देती है, संखिया मार देता है, और शरीरके बड़े बड़े घावों के खराब मैलको हटाना, कीड़ोंको मारना, घावके गड्ढेको भरना और उस पर नवीन चमड़ा लाना ये काम एक छोटी जड़ी बूटीसे हो जाते हैं। नर्मदा नदीमें जितने भी पत्थर निकलते हैं वे प्रायः नदीके प्रवाहसे महादेवकी सूरतके गोल ही होते हैं। पत्थरों पर ऐसी अच्छी सुन्दर बेल बूटे खानमें ही अपने आप अंकित हो जाते हैं: जिन्हें मनुष्य कठिनतासे बना सकता है। यह क्या जड़ पदार्थोंका परस्पर संयोगसे अद्भुत कार्य नहीं है? भोजन कर लेनेके बाद शरीरके कल पुर्जे रस, रक्त, मेदा, हड्डी, पेशाब आदि वस्तु कैसे नियमानुसार कर देते हैं। किसीके पेटमें हड्डी वगैरे हुई, बकरीके पेटमें मेंगनी, ऊंटके पेटमें छोटे छोटे आम सरीखे लेंड़े बनकर तयार हो जाते हैं क्या ये कार्य ईश्वर ही करता है? या उस शरीर वाले जीव कर देते हैं? ऐसा करना मनुष्य आदिके हाथकी तो बात नहीं है क्योंकि ऐसा ही होय तो फिर कभी अजीर्ण आदि नहीं होना चाहिये। अतः यह प्रशंसनीय अद्भुत कार्य भी ज्ञानशून्य शरीरके यन्त्रोंसे हुआ करते हैं। महाशयो! वैद्यकसे देखो, डाक्टरीसे देखो या साइन्ससे विचारो उत्तर एक यही मिलेगा कि जब जैसा जहां संयोग मिलता है तब वैसा हो जाता है। खून खराब होने पर फोड़े,

फुन्सी, खुजली, दाद हो जाता है क्या यह परमात्मा कर देता है? नहीं। इन समस्याओंको भी आप खूब विचार लीजिये आपको सब तरहसे उत्तर यही मिलेगा कि जड़ पदार्थ जब जैसे पदार्थका संयोग पाते है तब तैसी शकलमें पलट जाते हैं, वह संयोग कहीं अपने आप और कहीं मनुष्य आदि द्वारा होता है।

अच्छा! इन बातोंके सिवाय एक बात यह भी विचारिये कि ईश्वर सच्चिदानन्द, निर्विकार और कृतकृत्य है फिर वह सृष्टिको किस लिये बनाता है? जैसा कि सांख्यदर्शनके प्रसिद्ध प्रचारक श्री कुमारिलभट्टने भी तंत्रवार्तिकमें कहा है कि—

प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्तते।
जगच्चासृजतस्तस्य किन्नाम न कृतं भवेत्॥

यानी—विना कुछ मतलब विचारे मूर्ख मनुष्य भी किसी कामके करनेमें नहीं लगता है। तदनुसार ईश्वर यदि संसारको नहीं बनाता तो उसका क्या बिगड़ जाता? अर्थात् किस मतलबसे ईश्वरको सृष्टि रचनाके लिये प्रयत्न करना पड़ा?।

स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशके २२४वें पृष्ठ पर इस शंकाका समाधान प्रश्न उत्तरके रूपमें यों किया है—"प्रश्न—जगतके बनानेमें ईश्वरका क्या प्रयोजन है?। उत्तर—नहीं बनानेमें क्या प्रयोजन है?। प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्दमें बना रहता और जीवोंको भी सुख दुःख प्राप्त न होता। उत्तर—यह आलसी पुरुषोंकी बातें हैं पुरुषार्थीकी नहीं। और जीवोंको प्रलयमें क्या सुख वा दुःख है? जो सृष्टिके सुख दुःखकी तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुतसे पवित्रात्मा जीव मुक्तिके साधन कर मोक्षके आनन्दको भी प्राप्त होते हैं। प्रलयमें निकम्मे जैसे सुषुप्तिमें पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं। और प्रलयके पूर्व सृष्टिमें जीवोंके लिये पाप पुण्य कर्मोंका फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्योंकर भोग सकते? जो तुमसे कोई पूछे कि आंखके होनेमें क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे देखना। तो जो

ईश्वरमें जगतकी रचना करनेका विज्ञान वल और क्रिया है उसका क्या प्रयोजन, विना जगतकी उत्पत्ति करनेके ? दूसरा कुछ भी न कह सकोगे और परमात्माके न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं जब जगतको बनावे। उसकी अनन्त सामर्थ्य जगतकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करनेसे ही सफल है। जैसे नेत्रका स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वरका स्वाभाविक गुण जगतकी उत्पत्ति करके सब जीवोंको असंख्य पदार्थ दे कर परोपकार करना है।

स्वामीजीका यह उत्तर यद्यपि संतोषजनक नहीं है किन्तु तो भी प्रथम इसी पर विचार करना आवश्यक है। स्वामीजीने अपने उत्तरमें ईश्वरद्वारा सृष्टिरचनाके दो हेतु बतलाये हैं एक तो यह कि ईश्वरको अपना पुरुषार्थ, बल, दया, ज्ञान आदि गुणोंका परिचय देनेके लिये तथा उन्हें सफल बनानेके लिये सृष्टि-रचना आवश्यक है। दूसरे प्रलयकालके जीवोंका उद्धार करना और उनके पूर्वकर्मोंका उन्हें फल देनेके लिए सृष्टि बनानेकी जरूरत है।

इनमेंसे दूसरा हेतु तो पूछनेवालेके लिये युक्तिपूर्वक नहीं है। क्योंकि जो मनुष्य संसारका प्रलय होना ही असंभव समझता है, संसारके बनाने विगाड़नेसे ईश्वरका कुछ सरोकार नहीं मानता है उसके लिये स्वामीजीका यह हेतु कि प्रलयसे जीवोंका उद्धार करके ईश्वर उन्हें उनके कर्मोंका फल देनेको सृष्टि बनाता है व्यर्थ है। क्योंकि वह सृष्टि-रचनाकी तरह प्रलयको भी असंभव मानता हो। उसके सामने तो ईश्वरद्वारा सृष्टिरचना और प्रलय होना दोनों बातें असिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध किये विना स्वामीजीका यह प्रयोजन बतलाना फिजूल है।

तथा—स्वामीजीके पहले हेतुसे ईश्वरके परमात्मापनमें दोष आता है क्योंकि जो समस्त इच्छाओंसे और कर्तव्य कार्योंसे रहित है, विकारोंसे अलग है उस ईश्वरको संसारके सामने अपना बल, पुरुषार्थ दिखानेकी क्या जरूरत ? यह तो हम और आप सरीखे जीवोंकी बातें

हैं जिन्हें कि यश, आदर, सत्कार पानेकी ख्वाहिशें रहती हैं कि अपने शरीरका बल लोगोंको जतानेके लिये किसीसे कुश्ती लड़ें, अपना धन दिखानेके लिये दान करें, अच्छे भोग भोगें इत्यादि रूपसे जैसे जो ख्वाहिश पूरी हो उसे जरूर करें। क्या परमेश्वरको भी नामवरी (यश) और पूजा पानेकी ख्वाहिश थी? क्या उसके मनमें यह बात थी कि लोग मेरी सामर्थ्यको जरूर समझें? क्या उसे सृष्टि बनाने बिगाड़ने सरीखा लड़कोंकासा खेल खेलना और अपनी महिमा सबको दिखलाना बाकी रहा था? इन बातोंसे तो परमेश्वर कृतकृत्य नहीं ठहरता है हमारे समान उसे भी कार्य करने बाकी हैं। क्या किसीके शरीरमें ताकत हो तो उसे निहायत जरूरी है कि वह किसीसे लड़-भिड़ कर अपनी ताकतका जरूर इम्तिहान दे? क्या ईश्वरको ऐसा इम्तिहान देना था। मुक्त आत्मा कृतकृत्य इसीलिये कहलाता है कि उसको कोई करने योग्य कार्य नहीं रहता है अतः ईश्वरमें इस हेतुसे ख्वाहिशपूर्तिकी वजहसे विकार और अकृतकृत्यताका दोष आता है। इसके सिवाय स्वामीजी जो परमेश्वरका जो सृष्टिरचना स्वभाव बतलाते हैं वह तो ठीक नहीं है क्योंकि कहने मात्रसे स्वभाव सिद्ध नहीं होता है उसके लिये कोई मजबूत दलील होना चाहिये।

यदि जीवोंके उपकारके लिये ईश्वरद्वारा सृष्टिरचना मानी जाय तो संसारमें सभी जीव दुःखी क्यों हैं? कोई पुत्रसे, कोई धनसे, कोई बलसे तथा कुछ दिन पीछे प्रलय क्यों होती है? यह तो उपकार नहीं है बल्कि अपकार है। दयालु तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर सबोंको दुःखी ही क्यों बनाता है? यदि जीव अपने कर्मफलसे दुखी हैं तो सर्वशक्तिमान ईश्वर उन्हें खराब कर्मोंसे रोकता क्यों नहीं है?

क्या ईश्वरको खाली बैठे बैठे उदासी आ गई थी जिससे समय काटनेके लिये संसारके बनाने बिगाड़नेका खेल शुरू कर दिया?

क्या न्यायप्रियता दिखलानेके लिये सृष्टिरचना की तो कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई धनिक और कोई दरिद्र क्यों बनाया? सब एक

सरीखे क्यों नहीं वनाये ? उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि प्रलयके समय जैसे उनके कर्म थे वैसा उन्हें फल मिला। तो भी ठीक नहीं क्योंकि सृष्टिरचनाके पहले प्रलयकी सूरत थी इसका क्या सुबूत है ?

एवं—अन्तमें यह भी विचारना है कि पदार्थ अपने बीज (उपादान कारण) द्वारा ही नियमसे पैदा होते हैं, गेहूंके बीजसे जैसे चांवल नहीं उत्पन्न हो सकता उसी तरह मनुष्यसे वन्दर भी उत्पन्न नहीं हो सकता। मनुष्यसे ही मनुष्यका शरीर पैदा होगा और चावलसे ही चांवल उत्पन्न होगा इस नियमको खण्डित करनेकी न किसीमें ताकत है और न इसका कोई प्रमाण ही है अन्यथा अन्धाधुन्ध हो सकता है। जैसा कि पौराणिकोंने कर्णको कुन्तीके कानसे, सत्यवती (मत्स्यगंधा) को मछलीसे, अगस्ति मुनिको घड़ेसे और ऋषिशृंगको हरिणके लिंगसे उत्पन्न हुआ कह दिया है। तव जरा इतना विचारिये कि सृष्टिकी शुरूआतमें ईश्वर विना माता पिताके जवान स्त्री पुरुष, पशु पक्षी, कीड़े मकोड़े वगैरह कैसे तयार कर सकता है ? संसारकी कौनसी साइन्स इसके लिये लागू हो सकती है ? स्वामीजीका सत्यार्थप्रकाश के २२४वें पृष्ठका लेख है कि "आदि सृष्टिमें मनुष्य विना मातापिताके युवावस्थामें पैदा होते हैं।" यदि सत्य माना जावे तो आप लोग पुराणोंके गपोड़े झूठा नहीं कह सकते। जव कि हम आज देखते हैं कि मनुष्यसे ही मनुष्य उत्पन्न होता है अन्य तरह नहीं क्योंकि मनुष्यके शरीरके उपादान कारण माता पिताके रज वीर्य ही हैं अन्य नहीं तो युक्तिपूर्वक नियमसे मनुष्यपरम्परा अनादि सिद्ध होती है, वीच समयमें उस परम्पराका एक दम टूट जाना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता है। इसे भी पूर्ण तौरसे विचारिये और इन्साफ कीजिये कि जैनधर्मका ईश्वरको सृष्टिकर्ता न वतलाना सत्य है या स्वामीजीका लिखना ठीक है ?

तथा—स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशके २१६वें पृष्ठ पर एवं अन्यत्र भी जो सृष्टिरचना प्रक्रिया लिखी है वह सांख्यादर्शनके प्रथम अध्याय

के ६१ वें सूत्रका उल्लेख करके उसके अनुसार उल्लिखित की है। इससे यह तो सिद्ध है कि स्वामीजी वेदानुयायी सांख्यदर्शनके प्रणेता कपिल ऋषिको प्रमाण मानते हैं और उनके दर्शनको सत्य समझते हैं। अब यहां पर स्वामीजीकी भूलका अथवा छलव्यवहारका विचार कीजिये—

सांख्यदर्शन जिस किसीने पढ़ा या सुना होगा उसे अच्छी तरह मालूम होगा कि सांख्यदर्शन ईश्वरको नहीं मानता है और न उसे सृष्टिकर्ता ही कहता है, वह जगतमें प्रकृति और पुरुषकी सत्ता ही स्वीकार करता है, सृष्टि रचनेका कार्य जड़रूप प्रकृति द्वारा होना कहता है। पुरुषों (आत्माओं) मेंसे कुछको मुक्त और कुछको प्रकृतिसे बद्ध (बन्धा हुआ) स्वीकार करता है। उसके सूत्रोंको जरा देखिये कि वह अपना क्या अभिप्राय प्रगट करता है—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः।

(सांख्यदर्शन अध्याय ५ सूत्र २)

अर्थात्—ईश्वरके द्वारा फल नहीं मिलता है क्योंकि कर्मोंसे वह फल देनेका कार्य हो जाता है।

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्।

(अ० ५ सू० ६)

अर्थात्—प्रतिनियत कारण होनेसे रागके विना उसकी सिद्धि नहीं है। यानी—रागके विना किसी कार्यके करनेमें प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः ईश्वरका यदि फल देना-आदि कोई भी कार्य माना जायगा तो ईश्वरके राग अवश्य मानना पडेगा।

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः। (अ० ५ सू० ७)

अर्थ—ईश्वरमें राग है नहीं क्योंकि वह नित्य (सदासे) मुक्त है।

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्संगापत्तिः। (अ० ५ सू० ८)

यदि पुरुषके समान प्रधान (प्रकृति) की शक्तिसे ईश्वरमें फलदातृत्व माना जावे तो प्रकृतिके सम्बन्ध होनेका दोष आता है।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम्। (अ० ५ सू० ९)

अर्थ--यदि केवल प्रकृतिकी सत्ता से अर्थात् प्रकृतिके संयोग विना ईश्वरको फलदाता माना जावे तो सभी जीव ईश्वर हो जांयगे।

प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धिः। (अ० ५ सू० १०)

इस कारण ईश्वरकी मौजूदगीमें कोई सुबूत नहीं मिलने से ईश्वर नहीं है।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्। (अ० ५ सू० ११)

सम्बन्ध न होनेसे यानी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होनेवाले साध्य साधनकी व्याप्तिके न होनेसे अनुमान द्वारा भी ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य। (अ० ५ सू० १२)

यानी--श्रुति भी प्रधान द्वारा कार्य होनेको बतलाती है अर्थात् श्रुतियोंमें भी यही लिखा है कि सृष्टि रचना, फल देना आदि कार्य प्रकृति ही करती है। अतः ईश्वरकी मौजूदगी श्रुति (शब्द प्रमाण)-से भी सिद्ध नहीं होती है।

इस प्रकार सांख्यदर्शनने ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना और फल देना यह तो बात दूर रही किंतु ईश्वरकी सत्ता ही नहीं मानी है, फिर भी स्वामीजीने लोगोंको चक्करमें डालनेके लिये सांख्यदर्शनको ईश्वर-वादी बतलाया है और जो उसने प्रकृतिद्वारा सृष्टि रचना मानी है उसे स्वामीजीने ईश्वरद्वारा बतला कर सच्चे मतलब पर पड़दा डाल दिया है और खैंच तान कर सांख्यदर्शनको अपनी ओर मिलानेके लिये सूत्रोंका अर्थ कुछका कुछ कर दिखाया है। देखिये! सत्यार्थप्रकाशके १९८वें पृष्ठ पर 'ईश्वरासिद्धेः' आदि तीन सूत्रोंद्वारा प्रश्न करके ऊपर लिखे हुए ८,९ और १२ वें सूत्रद्वारा उसका उत्तर देते हुए स्वामीजीने ८वें और ९वें सूत्रके अर्थमें "इसलिये ईश्वर जगतका उपादान कारण नहीं किंतु निमित्त कारण है" इतना वाक्य मूल सूत्रमें न होते हुए भी अपने पाससे मिला दिया है और सत्यार्थप्रकाशके १९९वें पृष्ठमें बड़े

अभिमानसे लिखते हैं "इसलिये जो कोई कपिलाचार्यको अनीश्वर-वादी कहता है जानो वही अनीश्वरवादी है कपिलाचार्य नहीं।" यद्यपि स्वामीजीके इस असत्य वाक्यके खंडनके लिये पीछे लिखे हुए सांख्यदर्शनके पांचवें अध्यायके सूत्र ही बहुत हैं किंतु फिर भी उसी सांख्यदर्शनके प्रथम अध्यायके २-३ सूत्र और भी देखिये—

ईश्वरासिद्धेः। (सू० ९२)

अर्थात्—इसलिये ईश्वरकी सत्ता असिद्ध है।

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावन्न तत्सिद्धिः। (सू० ९३)

यानी—चैतन्य दो प्रकारके हैं, मुक्त और बद्ध। उन दोनोंमेंसे ईश्वर न तो बद्ध (प्रकृतिसे संयोग रखनेवाला) है और न मुक्त ही है। अतः ईश्वर नहीं है।

उभयथाप्यसत्करत्वम्। (सू० ९४)

अर्थ—दोनों प्रकारसे यानी बद्धरूप या मुक्तरूप मान लेने पर भी ईश्वरका कर्तव्य (सृष्टिरचना, फल देना आदि) नहीं सिद्ध होता है। अर्थात्—यदि ईश्वर मुक्त है तब तो अन्य मुक्तजीवोंके समान कुछ कर धर नहीं सकता और यदि बद्ध (संसारी) है तो हमारे तुम्हारे समान होकर भी नहीं कुछ कर सकता है।

अब विचारिये कि कपिलाचार्य अपने सांख्यदर्शनमें कितने साफ तौरसे ईश्वरकी मौजूदगीसे इनकार करते हैं और स्वामीजी फिर भी जबर्दस्ती उलटा-सीधा समझा कर इन्हें अपनी ओर मिलाते हैं। क्या **यह ईश्वर द्वारा सृष्टिरचनाकी नमूनेदार पोल नहीं है?** महाशयो! आप सांख्यदर्शनको स्वयं देखिये और फिर स्वामीजीकी लिखी हुई सृष्टि-रचनाको सत्यार्थप्रकाशमें पढ़िये। आप अपने आप तमाम सचाईको समझ जांयगे। यद्यपि सृष्टि-रचनाके विषयमें और भी अनेक शङ्काएँ हैं जिनका आप उत्तर सिवाय इसके कि "वास्तवमें ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है" कुछ नहीं दे सकते हैं किन्तु विस्तार हो जानेके कारण इस विषयको यहीं पर छोड़ते हैं। आप इस पर सच्चे दिलसे विचार

कीजिये कि जैनधर्मका ईश्वरको सृष्टिकर्ता न मानना सच है ? या स्वामीजीका लिखना ठीक है ?

सृष्टिके विषयमें जैनधर्मका संक्षेपसे यह कहना है कि यह संसार अनादिकालसे मौजूद है । इसको न किसीने बनाया है, न कभी बिगाड़ा है और न कभी आयन्दा भी इसका सर्वथा बनना बिगड़ना होगा जैसे आज तक चला आया है वैसा ही चला जायगा । इसका खास प्रमाण यह है कि पदार्थ अपने उपादान कारणसे ही उत्पन्न होते हैं अन्य तरह नहीं। इस कारण जब कभी मनुष्य उत्पन्न हुए थे या होंगे, तब अपने मनुष्य माता पिताके रज-वीर्यसे ही होंगे। ऐसे ही हाथी, घोड़ा, सिंह आदि अन्य जीव और यहां तक कि गेहूँ चावल आदि भी अपने नर मादा रूप माता पिताके रज-वीर्यसे तथा बीजसे ही अभी तक उत्पन्न हुए हैं और होंगे, अन्य तरहसे नहीं। इसलिये नियम-विरुद्ध बिलकुल नई सृष्टिकी रचना और प्रलयका होना असंभव है। हां! यह हो सकता है कि कभी कहीं शहरका जंगल हो जाय और कभी जंगलमें मंगल हो जाय, कभी मनुष्योंका शरीर, बल, बुद्धि ऊँचे बडे रूपमें हो और कभी हीनरूपमें हो।

कहीं जीवों द्वारा मकान, मंदिर, पुल, नहर आदि चीजें बनती हैं, कहीं वर्षा, शर्दी गर्मी आदि द्वारा तथा परस्पर जड़ पदार्थों द्वारा ही अनेक अनेक बनते रहते हैं, अन्य अन्य रूपोंमें पलटते रहते हैं। छोटे छोटेसे पत्थरोंके टीलेसे पहाड़ बन जाना तथा छोटेसे जल के सोतेसे बड़ी नदीका रूप हो जाना इत्यादि कार्य प्रकृतिने बिना किसी चेतन पदार्थकी (जीवकी) सहायता लिये बना कर तयार कर देती है।

अब आप विचार लीजिये कि ईश्वर मान कर भी जो उसने उसे जगतका बनाने बिगाड़नेवाला नहीं माना है वह मानना उसका युक्ति, न्यायसे ठीक है या नहीं ?

क्या ईश्वर कर्मफल देता है ?

(३)

यद्यपि सृष्टिरचनाके विषय पर काफी प्रकाश पड चुका है । अतः उसे समझ लेने पर जगतके अनादिपनेमें कुछ भी सन्देह रहनेका स्थान नहीं रहता; किंतु फिर भी ईश्वरको सृष्टिकर्ता सिद्ध करनेके लिये स्वामीजीने जो जीवोंको उनके कर्मोंका फल देनेवालेकी आवश्यकता बतलाई है और उस आवश्यकताकी पूर्ति ईश्वर द्वारा ही सिद्ध की है । जैसा कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४४५वें पर अपनेको आस्तिक और जैनोंको नास्तिक उल्लेख करके प्रश्नके उत्तररूपमें लिखा है, कि "यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पापके फल दुःखको जीव अपनी इच्छासे कभी न भोगेगा जैसे चोर आदि चोरीका फल अपनी इच्छासे नहीं भोगते किंतु राज्यव्यवस्थासे भोगते हैं। वैसे ही परमेश्वरके भुगानेसे जीव पाप और पुण्यके फलोंको भोगते हैं। अन्यथा कर्मसंकर हो जायंगे, अन्यके कर्म अन्यको भोगने पड़ेंगे।"

अब स्वामीजीके इस लेखका भी ३-४ प्रकारसे विचार कर लीजिये—प्रथम तो रागद्वेष रहित निर्विकार पवित्र आनन्दस्वरूप ईश्वरको जीवोंके कर्मोंका फल देनेसे गर्ज क्या है ? किस कारणके वश हो कर उसे यह करना पड़ता है ? क्या जीव ईश्वरको कुछ कष्ट पहुंचाते हैं या उसके राज्यशासनको भंग करते हैं ? जिससे ईश्वरको दंड अनुग्रह करना पड़ता है । राजा चोर आदिको दण्ड इसीलिये देता है कि वे उसकी आज्ञाका अपमान करते हैं, उसकी पुत्र-तुल्य प्रजाको हानि पहुंचाते हैं, वह अपनी प्रजाकी रक्षाके प्रेमसे तथा चोर पर कुपित-भावसे परवश होकर चोरको उसके कुकर्मकी सजा देता है। जब कि ईश्वरको किसी पर द्वेष नहीं है, उसे अपना राज्य जमाना नहीं है तथा अन्य किसी स्वार्थको गांठनेकी उसे इच्छा नहीं है, सर्वथा स्वतन्त्र पाक-दिल है, फिर वह कर्मफल देनेके लिये क्यों बाध्य है ?

क्या वह फल दिये विना ईश्वरपदमें नहीं रहेगा? अतः यहां दो बातें हैं, या तो ईश्वरको रागीद्वेषी माना जाय क्योंकि किसी भी कार्यमें लगना राग और द्वेषकी वजहसे ही होता है। वह जब जीवोंको फल देनेका कार्य करता है तब उसके रागद्वेष होना अनिवार्य होगा और उस हालतमें वह निर्विकार पवित्र न रह सकेगा। अथवा उसे निर्विकार मानकर मुक्त-जीवोंके समान इस झगड़ेसे अलग ही माना जावे, विचारिये—

एक यह बात भी विचारना है कि ईश्वर जीवोंको कर्मका फल किस प्रकारसे देता है। वह स्वयं साक्षात् तो दे नहीं सकता क्योंकि वह निराकार है और यदि वह साक्षात् खुद ही कर्मोंका फल देता तो इस बातको कौन नहीं स्वीकार करता। यदि वह राजा आदि द्वारा जीवोंको अपने कर्मफलोंका दंड दिलाता है तो ईश्वरके लिये बड़ी आपत्तियां खड़ी होती हैं, उन्हें सुनिये—ईश्वरको एक धनिकके धनको चुरवा देकर या लुटवाकर उस धनिकके पूर्वकर्मका फल देना है, तो ईश्वर इस कार्यको खुद तो आकर करेगा नहीं; किसी चोर या डाकूसे ही वह ऐसा करावेगा, तो इस हालतमें जिस चोर या डाकू द्वारा ईश्वर ऐसा फल उस धनिकको भुगावेगा, वह चोर ईश्वरकी आज्ञाका पालक होनेसे निर्दोष होगा। फिर उसे दोषी ठहराकर जो पुलिस पकड़ती है और सजा देती है, वह ईश्वरके न्यायसे बाहरकी बात है। यदि उसे भी ईश्वरके न्यायमें सम्मिलितकर चोरको चोरीकी सजा पुलिस द्वारा दिलाना आवश्यक समझा जाय तो यह ईश्वरका अच्छा अन्धेर न्याय है कि एक तो खुद धनिकको दण्ड देनेके लिए चोरको उसके घर भेजे और उधर पुलिस द्वारा उस चोरको पकड़वा दे। क्या यह "चोरसे चोरी करनेकी कहे और साहसे जागनेकी कहे" इस कहावतके अनुसार ईश्वरमें दोगलापन नहीं आवेगा? इसीप्रकार जीवोंको प्राण-दंड देनेके लिये ईश्वरने कसाई, चांडाल तथा सिंह आदि जीव पैदा किये। तदनुसार वे प्रति दिन हजारों जीवोंको मार कर उनके कर्मका फल

उन्हें देते हैं तो वे भी निर्दोष समझे जाने चाहिये क्योंकि वे तो ईश्वर की प्रेरणाके अनुसार कार्य कर रहे हैं। यदि ईश्वर उन्हें निर्दोष माने तब तो उसके लिए अन्य सभी जीव जो कि दूसरोंको किसी न किसी-प्रकार हानि पहुंचाते हैं, निर्दोष ही होने चाहिये। यदि उन्हें दोषी माने तो महा अन्याय होगा क्योंकि राजाकी आज्ञानुसार अपराधियोंको अपराधका दण्ड देनेवाले जेलदरोगा, फांसी लगानेवाले चांडाल आदि जब न्यायसे निर्दोष माने जाते हैं, तब उनके समान ईश्वरकी प्रेरणा अनुसार अपराधियोंको अपराधका दण्ड देनेवाले दोषी क्यों होने चाहिये ?

तथा कर्मफलका देनेवाला यदि कोई बुद्धिमान होता है तो अपराधीको अपराधका फल देते समय वह दो बातें करता है एक तो उसे उसका अपराध बतलाता है कि तैने यह अपराध किया है, इसकारण तुझे यह दण्ड दिया जाता है। दूसरे उसके लिए वह ऐसा प्रबन्ध रखता है जिससे कि वह फिर वैसा अपराध न कर सके जैसे कि किसीको जेल, किसीको कालापानी और किसीपर पुलिसकी कड़ी निगाह आदि। इससे परिणाम यह निकलता है कि वह अपराधी आइन्दा उस कसूरको नहीं कर पाता है। जब कि हम ईश्वरकी ओर देखते हैं ये दोनों ही बातें नहीं हैं। न तो वह फल देते समय जीवोंको यह बतलाता है कि, देखो! तुमने पहले ऐसे कर्म किए थे उसका दंड तुम्हें यह दिया जाता है, आइन्दाके लिये सावधान रहना। और न वह दण्ड ही ऐसा देता है जिससे कि वह जीव आगेके लिये वैसा बुरा काम न कर सके। क्योंकि सत्यार्थप्रकाशके नौवें समुल्लासमें २६७ वें पृष्ठपर स्वामीजी लिखते हैं कि "जो नर शरीरसे चोरी, परस्त्री गमन, श्रेष्ठोंको मारने आदि दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि स्थावरका जन्म, वाणीसे किये पापकर्मोंसे पक्षी और मृगादि तथा मनसे किये दुष्ट कर्मोंसे चांडाल आदिका शरीर मिलता है। अब विचारिए कि जीवोंने पापकर्म किये, ईश्वरको दण्ड यह देना चाहिये था कि आगे

वे वैसा कार्य न करने पावें किंतु किया उसने इसके विरुद्ध यानी उसे और अधिक पाप करनेके लिए चांडाल आदि बना दिया। क्या न्याय इसीका नाम है? क्या कोई भी जज (न्यायाधीश) ऐसे दण्ड देता हुआ देखा या सुना है जो कि दंड देनेके बहानेसे अपराधीको ऐसा बना दे कि वह और भी अधिक वैसे अपराध करे। क्या ईश्वरका ऐसा फल देना अन्याय नहीं है? क्या ईश्वरको इस बातमें आनंद मिलता है कि, यह आगेको और अधिक पाप करे तो मैं भी इसे और अधिक दुख दूं? विचारिये, कर्मफलदाता ईश्वरको माननेसे उसके मस्तक पर यह अन्याय चढ़ता है।

और भी देखिये-ईश्वर सर्वज्ञ है और साथ ही सर्वशक्तिमान् होता हुआ स्वामीजीके लिखे अनुसार कर्मफलदाता भी है। जब यह बात सच है तो वह जीवोंसे बुरे कर्म क्यों होने देता है? वह जानता है कि अमुक जीव अमुक खोटा काम करनेवाला है, जिससे कि मुझे उसके लिये अमुक सजा देनी पडेगी ऐसा समझकर भी ईश्वर जो उसे अपनी शक्तिसे न रोकता है और न उसे उसका अपराध सुझाता है। क्या यह ईश्वरका न्याय है? ऐसा कौन न्यायी पिता या जज है जो कि अपने पुत्रको या किसी आदमीको खराब काम करते देख अपनी शक्तिसे उसे न रोकेगा। क्योंकि ऐसा यदि वह न करे तो लोग उसे दुष्ट कहें, दयालु कभी न कहें। विचारिये, ईश्वरकी दयालुता, सर्वशक्ति और सर्वज्ञताका क्या यही सदुपयोग है?

तथा—ईश्वर जीवोंको उनके कर्मका फल किस तरह दे सकता है क्योंकि वह निराकार है। निराकारसे साकारको हरकत पहुंचना बिलकुल असंभव है जैसे आकाशसे। इसलिये ईश्वर निराकार होनेसे जीवोंको कर्मफल नहीं दे सकता। गतवर्ष जापानमें फूजियामा नामक ज्वालामुखी पहाड़ फूट पड़ा था जिसके कारण जापानमें भयंकर भूकम्प होनेसे तथा आग लग जानेसे जापानकी राजधानीका नगर आधा नष्ट हो गया और लाखों आदमी एकदम बुरी हालतसे मर गये। तो क्या

यह ईश्वरकी ही कृपा थी ? क्या इस वर्ष अति वृष्टिके कारण चीनमें लाखों आदमी तथा भारतवर्षमें भी लाखों आदमी यहां तक कि धर्म-कर्ममें लगे रहनेवाले ऋषीकेशके २०० साधु भी पानीमें डूब मरे, हजारों घर, गांव, पशु, जलमग्न हो गये। क्या यह भी परमात्माने जीवोंको उनके कर्मका फल दिया था ? सोचिये कि परमात्मा एकदम इतने जीवों पर कैसे बिगड़ पड़ा ?

स्वामीजीकी यह युक्ति बहुत कमजोर है कि जीव कर्मफल अपने आप नहीं भोग सकते हैं, उनके लिये फलदाता ईश्वर अवश्य चाहिये। क्योंकि यद्यपि कोई अपनी इच्छासे दुःख नहीं भोगना चाहता है किन्तु फिर भी हम प्रति दिन देखते हैं कि सैकड़ों जीव अपने किये हुए कार्यका फल विना किसीके दिये खुद पा लेते हैं। देखिये-लोगोंको सभाएं प्रस्ताव करके समझाती हैं कि अपने पुत्र-पुत्रियोंको पढ़ाओ और उनका बाल-विवाह मत करो, अपनी पुत्रीको वृद्ध पुरुषके साथ मत विवाहो। किन्तु बहुतसे लोग ऐसा नहीं मानते हैं और इसके विरुद्ध कर डालते हैं। परिणाम यह निकलता है कि उनका पुत्र मूर्ख रहकर उनका धन और यश नष्टकर देता है और छोटी आयुमें विषय-भोगके पंजेसे अपने शरीरको गलाकर थोड़े समय पीछेही चल बसता है। वृद्ध बाबाको विवाही हुई उनकी पुत्री कुछ दिन बादही विधवा होकर अपने बापको उसके कर्तव्यका नतीजा दिखाती है। शराबी मनुष्य लोगोंकी मनाही करने पर भी शराब पी लेता है किन्तु फिर उसे अचेत होकर दुःख भोगना पड़ता है। रोगी मनुष्यको वैद्य बहुतसी चीजें खानेका परहेज बतलाता है किंतु वे जिह्वाके लोलुपी होकर उसे तोड़ देते हैं। फल यह होता है, कि उनका रोग और भी बढ़ जाता है। तो क्या यह सब फल ईश्वर द्वारा ही दिया जाता है ? उत्तरमें आप यही कहेंगे कि नहीं यह तो नियमानुसार बिना किसीके दिये खुद मिल जाता है। यदि ऐसा है तो स्वामीजीका यह हेतु कि फल देने वाला कोई बुद्धिमान अवश्य चाहिये असिद्ध है इत्यादि। अनेक उदाहरणोंसे आप निश्चय करेंगे कि अनेक कर्मोंका

फल स्वयमेव प्राप्त होता रहता है, किसी भी फल देने वाले बुद्धिमान व्यक्तिकी जरूरत नहीं होती। इसलिये यह भी निश्चय होता है कि कर्म-फल भुगानेकी अपेक्षासे भी ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानना गलत है।

अन्तमें इस विषयको समाप्त करता हुआ एक ऐसा प्रमाण आपके सामने रख देना अच्छा समझता हूं जिसे आप सहर्ष स्वीकार कर लें। भगवद्‌गीता जो कि स्वयं कृष्णजीका उपदेश माना जाता है और जिसके लिखनेको आप भी स्वामीजीकी अपेक्षा अधिक सत्य समझते होंगे, उसके पांचवें अध्यायमें लिखा है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

अर्थात्—ईश्वर न तो सृष्टि बनाता है, न कर्म ही रचता है और न कर्मोंके फलोंको ही देता है, न तो वह किसीका पाप लेता तथा न किसीका पुण्य ही लेता है, अज्ञानसे ढके हुए ज्ञान द्वारा जीव मोहमें फंस जाते हैं।

कहिये मित्रो! कृष्णजी जब कि गीतासे साफ तौर पर ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना तथा कर्मफल देनेका निषेध करते हैं और ऐसा माननेको अज्ञान बतलाते हैं। तब फिर जैनधर्मका सिद्धांत असत्य क्यों? और स्वामीजीका लिखना सत्य किस कारण है? सच्चे दिलसे विचारिये।

प्रलय पर प्रकाश

जगतकी प्रलय कभी नहीं होती।

४

यद्यपि हमारे पूर्वोक्त लेखसे संसारकी बिलकुल नवीन रचनाका होना तथा उसका सर्वथा नाश यानी प्रलयका होना असम्भव ठहर चुका है, किंतु स्वामीजीने अनेक स्थानों पर प्रलयका उल्लेख करके ईश्वरकी सिद्धि करना चाही है। अतः इस विषय पर भी कुछ प्रकाश डाल देना उपयुक्त समझते हैं।

इस विषयमें प्रवेश करनेके प्रथम मुझे यह अच्छा मालूम होता है कि आपके सामने स्वामीजीके प्रलय-सम्बन्धी कुछ परस्पर विरोधी लिखित नमूने पेश करूं, जिनसे कि आप स्वामीजीके प्रलय-सम्बन्धी सिद्धांतोंसे उनके अनिश्चित मतको समझ लें। स्वामीजी ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिकाके ११७वें पृष्ठ पर प्रलयका स्वरूप लिखते हैं—"जब यह कार्य-सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगतका कारण अर्थात् जगत बनानेकी सामग्री विराजमान थी, उस समय शून्य नाम अर्थात् जो नेत्रोंसे देखनेमें नहीं आता सो भी नहीं था क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था, उस कालमें सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहलाता है वह भी नहीं था, उससमय परमाणु भी नहीं थे तथा विराट अर्थात् जो सब स्थूल जगतके निवासका स्थान है सो भी नहीं था।" यानी परमेश्वरके सिवा आकाश, परमाणु, प्रकृति आदि प्रलय दशामें कुछ भी नहीं था। अनन्तर स्वामीजीने ११८ पृष्ठ पर भी लिखा है, कि "हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टिके पहले वर्तमान था।" इस प्रकार ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकामें लिखकर आप सत्यार्थप्रकाशके २१८वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि, "ईश्वर, जीव और जगतका कारण ये तीन अनादि हैं।" यहां पर ईश्वरके सिवा जीव और प्रकृतिको भी सृष्टिके पहले मान लिया, अब सत्या

र्थप्रकाशके ४३८वें पृष्ठ पर निगाह डालिये, वहां स्वामीजीने लिखा है कि "आकाश, काल, जीव और परमाणु नये वा पुराने कभी नहीं होसकते, क्योंकि ये अनादि और कारण रूपसे अविनाशी हैं।" यहां आपने ईश्वरके सिवा चार पदार्थोंको भी जिनमें कि काल भी सम्मिलित है। अनादि मानकर उनकी सत्ता प्रलयकालमें बतला दी, जिससे कि साफ नहीं हुआ कि स्वामीजीने प्रलय-दशामें आकाश, काल माना है या नहीं? क्योंकि सृष्टिरचनाके समय शब्दसे उस आकाशकी उत्पत्ति भी उन्होंने सत्यार्थप्रकाशके २३३वें पृष्ठ पर लिखी है। ऐसे परस्पर-विरोधी लेखों से प्रलयका असली स्वरूप क्या माना जाय? (प्रलयके विषयमें यद्यपि स्वामीजीके लेखोंमें और भी अनेक परस्पर विरोध हैं किंतु नमूनेके लिये इतना ही बहुत है) यदि ४३८वें पृष्ठका लिखना सत्य है तो २३३वें पृष्ठकी सृष्टिरचना गलत ठहरती है। यदि सृष्टिरचनाको साबित रखनेके लिये ४३८वें पृष्ठका लिखना असत्य मान कर आकाश की भी प्रलय मानी जाय तो प्रलयके समय जीव, प्रकृति, ईश्वर आदि कहां ठहरते होंगे? इसका उत्तर विचारिये।

स्वामीजीके लिखे अनुसार प्रलयका स्वरूप यह है कि जब पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा मनुष्यादि जीवोंके शरीर वगैरह सभी पदार्थ नष्ट हो जांय, एक भी पदार्थ बाकी न बचे, सब जीव शरीर रहित हो जांय, प्रकृति परमाणुरूपमें हो जावे, तब प्रलय समझना चाहिये, यह प्रलयकी हालत सृष्टिके समान चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष तक रहती है।

अब विचार कीजिये कि, ऐसी प्रलय भी कभी संभव हो सकी है? जब कि संसारके सारे पदार्थ नेस्तनाबूद हो जावें? इसके उत्तरमें विचारशील पुरुष यही कहेगा कि नहीं। क्योंकि ऐसा होनेका कोई कारण नहीं दीखता है। हम लोग जब किसी पदार्थका नाश होते देखते हैं तब हमको यही नजर आता है कि वह पदार्थ दूसरी हालतमें हो गया। पहले घड़ा था जब उसे किसीने ऊपरसे पटक दिया तब

फूटकर नष्ट तो होगया किंतु उसकी सूरत अनेक टुकड़ों (ठीकरियों) के रूपमें तब भी मौजूद है। यदि कोई मनुष्य उन टुकड़ोंको और भी कूट पीस दे तो वे ही टुकडे धूलके रूपमें हो जांयगे, फिर पानीका संयोग पाकर घड़े बनने योग्य मिट्टीके रूपमें वह धूल हो सकती है। इस तरह असलियतमें देखा जाय तो ठीकरी, धूल, मिट्टी आदि नाम ही बदल गये हैं, पदार्थ नष्ट नहीं हुआ है। यद्यपि धूल आदिके कण किसी कारणसे टूटते ही चले जांय तो परमाणुरूपमें भी हो सकते हैं, किन्तु कुछ एक, सब नहीं। क्योंकि पानी अग्नि वायु आदि पदार्थोंके संबन्धसे-धूल, राख आदि बिखरे हुए पदार्थोंका संयोग (बंधा हुआ रूप) भी सदा होता रहता है। जैसे कुछ पदार्थ बिखर-बिखरकर परमाणुरूपमें हो जाते हैं उसी तरह अनेक परमाणु परस्परमें जुड़ते हुए स्थूलरूपमें भी सदा होते रहते हैं। इस प्रकारके बनने-बिगड़नेको साइन्स भी सिद्ध करती है ऐसा कोई कारण स्वामीजीको बतलाना चाहिये था जिससे परमाणुओंका परस्परमें मिलना तो बिलकुल बन्द हो जाय और सभी पदार्थों का बिखर बिखरकर परमाणुरूपमें होना शुरू हो जाय क्योंकि ऐसा हुए बिना सभी पदार्थ नष्ट होकर परमाणुरूपमें नहीं आ सकते। इस बातको यदि विज्ञानसे विचारा जाय तो साइन्स इस बातका निषेध करती है तथा इसके सिवाय हमको अन्य कोई ऐसा कारण नजर नहीं आता जिससे कि यह बात संभव हो सके।

स्वामीजीके कथनानुसार इस कार्यका करनेवाला यदि ईश्वरको माना जाय तो भी नहीं बनता क्योंकि अशरीर निराकार ईश्वर साकार चीजोंको कैसे बिगाड़ सकता है तथा इस कामके लिये हलन-चलन करनेकी जरूरत है सो ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह ठसाठस भरा हुआ) होनेसे ऐसा करनेमें आकाशके समान असमर्थ है। और फिर शुद्ध निर्विकार ईश्वर ऐसा बिगाड़नेका कार्य क्यों करे? बिना प्रयोजन जब कि मन्द पुरुष भी कोई बिगाड़ सुधारका काम नहीं करता है, तब सर्वज्ञता ईश्वर ऐसा क्यों करने लगा? क्या सृष्टिके मौजूद रहनेसे

उसका कुछ बिगड़ता था? या बिना सृष्टिका सर्वनाश किये उसको चैन नहीं पड़ती थी? या बालकके समान उसे भी खेल बिगाड़ना बनाना अच्छा लगता है? कौनसा ऐसा बोझ या दबाव उसके ऊपर है जो संसारका सर्वनाश किये बिना उसका टिकना मुश्किल है? जब कि नीतिके अनुसार अपने हाथसे लगाया हुआ कांटेदार पेड़को उखाड़ फेंकना, अपने दुर्गुणी पुत्रको भी मार डालना अनुचित है तो ईश्वर फिर ऐसा सर्व संसारका संहार सरीखा अनुचित कार्य क्यों करता है? क्या सृष्टि उसका कोई मतलब बिगाड़ती है; जिससे कि परवश उसे ऐसा करना ही पड़ता है? इत्यादि। किसी भी पहलूसे विचारें किन्तु किसी तरह भी प्रलय सरीखा महानिन्द्य कार्य ईश्वर द्वारा होना सम्भव नहीं होता। मालूम नहीं पड़ा कि स्वामीजीने ईश्वरको निर्विकार पवित्र बतलाकर भी ऐसी असम्भव ऊट-पटांग कलंकित बातको ईश्वरके जिम्मे जबर्दस्ती क्यों डाल दिया?

यदि ईश्वरका प्रलय करना स्वभाव माना जाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सृष्टिरचना और प्रलय करना सरीखे विरुद्ध दो स्वभाव एक ईश्वरमें रह नहीं सकते हैं। अतः या तो ईश्वर स्वभावसे सृष्टिकर्ता ही हो सकता है या सृष्टि संहार यानी प्रलयकर्ता ही हो सकता है, स्वाभाविक नियमानुसार दोनों स्वभाव उसमें रह नहीं सकते। जैसे अग्निका स्वभाव यदि गर्म है तो उसके स्वभावमें शीतता नहीं रहती है। इसके सिवाय खास बात एक यह है कि, ईश्वर प्रलयकर्ता है इसका हमें कोई सबूत मिलता।

तथा एक बात यह भी विचारनेको है कि यदि संसारके सभी पदार्थोंकी पूरे तौरसे प्रलय (नाश) हो जाय तो फिर सृष्टिका होना सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादानकारणोंसे ही उत्पन्न होता है अन्य प्रकारसे नहीं। देखिये! आमके बीजसे ही आम का पेड़ उत्पन्न होता है, जिस बीजसे नीमका पेड़ पैदा होता है, उससे आमका पेड़ कभी नहीं उत्पन्न हो सकता। इसी तरह सिंह जातिके जीव

सिहके वीर्यसे ही उत्पन्न होते हैं, मनुष्यकी पैदायशके लिये मनुष्यका वीर्य होना निहायत जरूरी है इत्यादि सभी गर्भज, अण्डज तथा वृक्ष आदि जीवोंके शरीरके उपादानकारण निश्चित हैं। अतः वे अपने उपादानकारणसे तो उत्पन्न हो सकते हैं परन्तु हजारों यत्न करने पर भी उपादानकारणसे भिन्न दूसरे पदार्थसे उनका शरीर नहीं बन सकता है। इस बातको स्वीकार करते हुए स्वयं स्वामीजीने सत्यार्थ-प्रकाशमें लिखा है कि "यदि कोई मनुष्यकी उत्पत्ति विना माता पिता-ओंके कहे तो ऐसी बातें पागल लोगोंकी हैं।" किन्तु खेद! स्वामीजी अपनी अन्य बातोंके समान इस लिखी हुई बातपर दृढ़ नहीं रहे और प्रलयके चक्करमें आ कर इस नियमकी भी प्रलय कर बैठे! अस्तु। ध्यानपूर्वक विचारिये कि प्रलयकालमें जब कि समस्त जीवोंके शरीर नष्ट हो कर परमाणुरूप हो गये तब संसारमें कहीं भी उनके शरीरके उपादानकारण जो बीज या अपनी अपनी जातिका रजवीर्य है सो नहीं रहा, फिर सृष्टिके समयमें उन जीवोंके शरीर परमाणुओंसे कैसे बन गये? परमाणुओंको मिलाकर ईश्वरने मनुष्यका शरीर कैसे बना दिया "सृष्टिकी आदिमें विना माता पिताके जवान मनुष्योंको ईश्वर बनाता है" ऐसी बात लिखते समय स्वामीजी "यदि कोई मनुष्यकी उत्पत्ति विना माता पिताओंके कहे तो ऐसी बातें पागल लोगोंकी हैं।" अपनी लिखी हुई बातको भूल गये। हम क्या समझें कि इन दोनोंमेंसे कौनसी बात बुद्धिमानीकी है और कौनसी पागलपनकी है? (अपराध क्षमा हो यह स्वामीजीका ही वचन है)

ईश्वरकी सर्वशक्तिके ध्यानसे स्वामीजी यदि यह बात लिख गये हों तो उन्हें पौराणिकोंकी कथाओंको असत्य ठहरानेका कोई अधिकार नहीं था क्योंकि ईश्वरकी महिमा गाकर स्वामीजीने यदि विना माता पिता-के जवान मनुष्योंका उत्पन्न होना बताया तो पौराणिकोंने यदि हिमालय पहाड़से पार्वतीका, पार्वतीके शरीरके मैलसे गणेशका, घड़ेसे अगस्ति मुनिका उत्पन्न होना मान लिया तो कौन आश्चर्यकी बात है। अतः

जब कि आप पैराणिकोंके गपोड़ोंको झूठा समझनेका दावा रखते हो तो आपको यह भी उचित है कि उसके पहले स्वामी दयानन्दजीके इस महागपोड़ेको अवश्य असत्य मानो। आशा है इसपर निष्पक्ष तौरसे विचार करके आप सत्य बातका पता पा लेंगे।

इस विषयको समाप्त करनेके पहले एक छोटीसी बात यह और पूछनेकी है कि स्वामीने जो ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिकामें प्रलयका समय सृष्टिकालके बराबर चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षका बताया है सो किस हिसाबसे, किस नियमके अनुसार बतलाया है? क्या ईश्वर-ने हमेशाके लिए अपना प्रलय और सृष्टिकेलिए टाइम मुकर्रिर कर रक्खा है? या किसीने ईश्वर पर ऐसा आर्डर चलाया है कि इसी तरहसे कार्य करते रहो? अथवा चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षका एक दिन और उतनी ही बड़ी रात ईश्वरके टाइमटेबिलमें होती है सो जब तक दिन रहा तब तक काम करते रहे, सृष्टिरचनाका तमाम हिसाब रक्खा कि उस जीवको उसके गर्भमें भेजना है, अमुक जीवकी उम्र खतम होनेवाली है, उस जीवको कोतवालीमें भेजना है, वह जीव कालेपानी जाना चाहिये, उसका घर गिरना चाहिए, उसका पुत्र मरना चाहिए, अमुकके खातेमें पुण्य जमा हुआ, अमुकके खातेमें पापका जमा-खर्च बराबर है, इत्यादि। मुनीमोंके समान तमाम खाता उलट पलट देखा और देनदारसे लिया, लेनदारको दिया इत्यादि। दिनभर इसी धुनमें लगे रहकर अन्य किसी ओर ध्यान न दिया और न कुछ आराम किया। फिर दिन समाप्त होनेपर दीया जला काम करना ठीक न समझ दिनकी थकावट मिटानेके लिये वही खाता बन्द करके सो गये वहां खाता बन्द किया कि चट यहां चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षके लिये तमाम मशीनें बन्द ही नहीं किन्तु नष्ट-भ्रष्ट होकर प्रलय हो गई? ईश्वरके इस खेलको विचारो तो सही। तथैव सत्यार्थप्रकाशके २३२ वें पृष्ठपर लिखी हुई सृष्टिरचनाका आप मुजरा कर ही चुके हैं, जहां कि यह बतलाया है कि पृथ्वी, आकाश, जल, वायु तथा यहां तक कि

शरीर पैदा होनेके पहले ही अहंकारसे ईश्वरने पांच कर्मेन्द्रिय, और पांच ज्ञानेंद्रिय और मनको बना दिया। न जाने स्वामीजीने विना पृथ्वी आकाशके और शरीरके इन इन्द्रियोंको ठहरानेका कहां इन्तिजाम किया है।

प्रलय होना यद्यपि जैनधर्ममें भी माना गया है किंतु सकारण, संभवनीय और खण्डरूप। प्रथम तो जैनधर्मने प्रलय करनेका महादोष ईश्वरको नहीं सौंपा है किंतु उसके होनेके कारण अतिशय भयंकर महातूफान (आंधी), प्रलय, अति जलवृष्टि और अग्निवृष्टि आदि बतलाये हैं तथा इन कारणोंसे भी तमाम आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदिका प्रलय नहीं माना है जिससे कि फिर सृष्टिही उत्पन्न न होसके किंतु मकान, वृक्ष तथा बहुतसे जीवोंके शरीरका सर्वनाश होना माना है, गर्भज अण्डजादि जीवोंके कुछ युगल अवश्य रह जाते हैं। एवं ऐसी प्रलय भी सर्वत्र नहीं होती है किन्तु कुछ क्षेत्रोंमें। जैसे गतवर्ष भूकम्प, जलवृष्टि, तूफान आदिसे जापानकी; इसवर्ष अतिवृष्टिसे भारतवर्षके कई स्थानोंकी प्रलय हुई है यह छोटी प्रलय है वह उपर्युक्त अनुसार बड़ी प्रलय होती है।

ईश्वर भी सर्वशक्तिमान नहीं ठहरता है ।

(५)

प्रियवर महाशयो ! स्वामीजीने ईश्वरको सर्वशक्तिमान बतलाया है जिसका कि अर्थ यह है कि ईश्वरमें सब कुछ करनेकी शक्ति मौजूद है। स्वामीजीके लिखे अनुसार आप लोग भी ऐसा ही मानते होंगे किंतु मित्रो! युक्तिपूर्वक विचारोंके सामने स्वामीजीका यह लिखना और आप लोगोंका उसे मानना असत्य ठहरता है। आप लोगके सामने यह एक नई बात है इसलिये आप इस पर ध्यानपूर्वक विचार कीजिये—

क्या ईश्वर सब जीवोंको दयालुतावश अपने सरीखा ईश्वर बना सकता है ? अथवा इतना न करे तो न सही किंतु उनको अजर, अमर भी कर सकता है क्या ? राजा जैसे किसी बड़े भारी अपराधी को अपने राज्यसे बाहर निकाल देता है—जैसे कि बहुतसे भारतीय विद्वानोंको सरकारने भारतवर्षसे निकाल दिया है क्या इसी प्रकार ईश्वर भी अपनी आज्ञासे सर्वथा विरुद्ध चलनेवाले नास्तिक लोगोंको अपने राज्यसे यानी सृष्टिसे बाहर निकाल सकता है ? क्या ईश्वर आकाशसे फूल और पेड़ोंसे मनुष्य उत्पन्न कर सकता है ? क्या वह कभी सारे संसारका निर्मूल नाश कर सकता है ? और क्या वह ऐसा दूसरा जगत भी बना कर तयार कर सकता है ? क्या वह अस्ति (इस्ति)-से नास्ति (नेस्ति) और नास्तिसे अस्ति कर सकता है ?

इन सब प्रश्नोंका उत्तर आप यही दे सकते हैं कि "नहीं, ईश्वर ऐसा कदापि नहीं कर सकता क्योंकि ये बातें प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध हैं" जब कि ऐसा है, ईश्वर प्राकृतिक नियमोंसे विपरीत तिल भर भी नहीं कर सकता तब मित्रो ! आप ही बतलाइये कि वह फिर सर्वशक्तिमान कैसे कहा जा सकता है ? ऐसी दशामें भी उसे सर्वशक्तिमान कहना "मियां चियां नाम पहाड़ खां"-की कहावतको चरितार्थ करता है। इस कारण तात्पर्य यह निकलता है कि ईश्वर अनन्त

शक्तिवाला तो हो सकता है किंतु सर्वशक्तिमान किसी भी तरह नहीं हो सकता। इसलिये स्वामीजीने जो ईश्वरको सर्वशक्तिमान लिखा है वह गलत है।

जैनधर्मका कर्म-सिद्धांत।

(६)

प्रिय मान्य महाशयो ! स्वामीजीने जो ईश्वरको सृष्टिकर्ता न माननेके कारण जैनधर्मको दोषी ठहराया है . और उस पर अनेक अनुचित अपशब्दोंकी वर्षा की है. उसका निराकारण हम पूरे तौर से आपके सामने रख चुके हैं, अब हम कर्म-सिद्धान्तका संक्षिप्त परिचय आपके सामने उपस्थित करते हैं, जो कि जैनधर्ममें बहुत फैलाव के साथ वर्णन किया गया है।

यद्यपि कर्म शब्दके अनेक अर्थ हैं अतः उसका व्यवहार अनेक रूपमें अनेक तरहसे होता है जैसे कि—साधारण तौरसे कर्म शब्दका अर्थ काम-धंधा (किसी भी प्रकारका अच्छा, बुरा कार्य) किया जाता है, मीमांसक लोग यज्ञ-याग आदि क्रियाओंको, वैयाकरण-कर्ता अपनी क्रियासे जिसे पाना चाहता है, उसको नैयायिक उत्क्षेपण-अवक्षेपण आदिको कर्म शब्दसे पुकारते हैं किन्तु जैनधर्ममें कर्म शब्दके दो अर्थ माने हैं। एक तो राग द्वेष आदि आत्माके अशुद्ध भाव और दूसरे क्रोध, मान आदि कषायोंके निमित्तसे आत्मासे चिपके हुए कार्माण जातिके पुद्गल परमाणु। इनमेंसे दूसरे अर्थके लिये कर्म शब्दका प्रयोग अधिकतर आया करता है। इस कर्म शब्दके अभिप्रायसे कुछ अंशोंमें मिलते जुलते अजैन दार्शनिकोंके प्रकृति, भाग्य, दैव, अदृष्ट, माया, अविद्या, धर्माधर्म आदि शब्द हैं।

जीव जब कोई भी अच्छा या बुरा कार्य मनसे विचारता है अथवा वचनसे कहता है या शरीर द्वारा करता है, उस समय आत्मामें इस

कार्यके निमित्तसे कम्प (हलन-चलन) पैदा होता है । इस कारण अपने समीपके कार्माण (कर्मरूप होने लायक) परमाणुओंको (वर्गणाओंको) खींचकर (कोशिश करके) अपनेमें मिला लेता है। जैसे गर्म लोहा पानीको खींच लेता है। परमाणु यद्यपि अचेतन होते हैं किन्तु आत्माके क्रोध, मान आदि कषायके संबंधसे उनमें आत्माके ज्ञान आदि गुणोंके ढकनेकी शक्ति आजाती है। इसलिए अपना समय आने पर वे कर्मपरमाणु अच्छा बुरा फल देकर अलग हो जाते हैं। इस विषयको उदाहरणसे मोटेरूपसे यों समझ लीजिये कि एक मनुष्यने शरावको पिया, वह कुछ देर तक तो होशमें रहा लेकिन थोड़ी देर पीछे जब शरावका नशा उसपर चढ़ा तब वह बेहोश होगया और उस समय वह पागलपनकी बहुतसी खराब चेष्टाएँ करता रहा, किंतु फिर उस नशेके उतरते ही वह होशमें आगया। कर्मोंकी हालत ठीक इसी प्रकार की है। शरावका नशा जैसे कांचकी बोतल, मिट्टीके प्याले आदि जड़ पदार्थों पर कुछ भी नहीं चढ़ता और न वे उसके सम्बन्धसे उछलने-कूदने ही लगते हैं क्योंकि शरावका नशा चेतन पदार्थके संयोगसे ही प्रगट होता है, इसी प्रकार कर्मपरमाणुओंमें भी आत्माका सम्बन्ध पाकर उसके ज्ञान आदि गुणोंको ढकने तथा विगाड़नेकी ताकत पैदा हो जाती है, जिससे कि वे जीवको संसारके भीतर तरह तरहके खेल खिलाते हैं।

कर्मोंकी सत्ता अनुमानसे इस प्रकार सिद्ध होती है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि संसारी जीव पराधीन हैं, क्योंकि वे अपनी इच्छानुसार (मर्जी मुआफिक) कार्य नहीं कर पाते, सदा सुखी, पूर्ण ज्ञानी रहना चाह कर भी दुःखोंके और अज्ञानके पंजेमें फंस जाते हैं, चाहते कुछ हैं और हो कुछ और ही जाता है। इसलिये सिद्ध होता है कि उन्हें (संसारी जीवोंको) परतंत्र रखनेवाला कोई पदार्थ अवश्य है। जब कि उस कारणका पता चलाते हैं तब बाहर दृश्यमान (दीख पड़नेवाला) कोई पदार्थ तो जीवोंको पराधीन रखनेका कारण सिद्ध

होता नहीं, ईश्वरसे यह कार्य होना असम्भव है क्योंकि वह निराकार, अशरीर, निर्लेप क्रियारहित है। सशरीर जीवोंको अशरीर अमूर्तिक पदार्थ किसी भी तरह पराधीन नहीं कर सकता है। अतः अन्तमें मानना पड़ता है कि कोई ऐसी मूर्तिक चीज है जो कि आत्माके साथ लगी हुई है, जिसके बन्धनसे आत्मा स्वतन्त्र नहीं होता है, बस, उसी मूर्तिक चीजका नाम कर्म है।

इसी बातको दूसरी तरह यों समझ लीजिये कि संसारमें कोई जीव, मनुष्य, कोई पशु, कोई धनिक, कोई निर्धन, कोई बुद्धिमान, विद्वान् और कोई मनुष्य मूर्ख दीख पड़ता है दो व्यापारी साथ साथ एकसा व्यापार करते हैं किन्तु एकको उसमें लाभ और दूसरेको हानि मिलती है। दो विद्यार्थी एक साथ एक गुरुसे पढ़ना शुरू करते हैं और शक्ति भर परिश्रम करते हैं किन्तु उनमेंसे एक पढ़कर विद्वान् हो जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है। अब प्रश्न उठता है कि बराबरीका दावा होने पर भी ऐसा भेद क्यों पड़ जाता है? विचार करने पर इस भेदभावका डालनेवाला कर्म सिद्ध होता है। जिसने कभी पहले समयमें अच्छे काम करके शुभ कर्म पैदा किया था, उसे अपने कार्यमें सफलता मिली और जिसने बुरे काम करके अशुभकर्म उपार्जन किये थे उनकी वजहसे उसे अपने काममें नाकामयाबी मिली।

इस कर्मसिद्धान्तको खंडित करनेके लिये स्वामीजीने यद्यपि कोई प्रबल युक्ति नहीं दी है, तो भी इस विषयका खण्डन जैसा उन्होंने किया, उसे आप सत्यार्थप्रकाशके ४४७वें पृष्ठ पर देखिये। वहां आप आस्तिक, नास्तिक संवादके रूपमें लिखते हैं कि—"नास्तिक-जीव कर्मोंके फल ऐसे ही भोग सकते हैं जैसे भांग पीनेके मदको स्वयमेव भोगता है, इसमें ईश्वरका काम नहीं। (उत्तर) आस्तिक—जैसे बिना राजाके डाकू, लंपट, चोरादि मनुष्य स्वयं फांसी व कारागृहमें नहीं जाते और न वे जाना चाहते हैं किन्तु राज्यकी न्यायव्यवस्थानु-

सार बलात्कारसे पकड़ा कर यथोचित राजदंड देता है। उसी प्रकार जीवको भी ईश्वर अपनी न्यायव्यवस्थासे स्वस्वकर्मानुसार यथायोग्य दंड देता है क्योंकि कोई भी जीव अपने दुष्ट कर्मोंका फल भोगना नहीं चाहता। इसलिये अवश्य परमात्मा न्यायाधीश होना चाहिये।"

न्यायप्रिय मित्रो! आप यदि प्रश्नको विचार कर स्वामीजीका यह उत्तर पढ़ें, तो आपको मालूम होगा कि प्रश्नकर्ताने जो भांगके नशा चढ़नेका उदाहरण देकर कर्मोंमें जीवोंको फल देनेकी शक्ति सिद्ध की है, उसका स्वामीजीने कुछ भी निराकरण नहीं किया है किंतु फिर भी हम विषयको खुलासा कर देनेके अभिप्रायसे स्वामीजीके अभिप्रायका उत्तर लिख देते हैं।

कर्मसिद्धांतके विषयमें स्वामीजीकी शंका दो प्रकारसे ही समझी जा सकती है एक तो यह कि—कर्मोंका फल जीव स्वयं भोगना नहीं चाहता है। अतः न्यायी राजाके समान कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर होना आवश्यक है। दूसरे—ज्ञानशून्य-कर्म जड़ पदार्थ होनेके कारण उचित फल देनेमें असमर्थ है अतः कोई चेतन पदार्थ फलदाता अवश्य होना चाहिये। इन दो शंकाओंके सिवाय कर्मसिद्धांतके विषयमें अन्य कोई शंका स्वामीजीने नहीं उठाई है इनका समाधान इस प्रकार है। जीव यद्यपि स्वयं अपने दुष्कर्मोंका फल नहीं भोगना चाहता है किंतु उसके न चाहनेसे उसे उसके कर्मोंका फल मिलना रुक थोड़ा ही सकता है? वह तो उसे अवश्य मिलेगा। दृष्टांतके लिये यों समझ लीजिये कि एक मनुष्य गर्मीके दिनोंमें धूपमें खड़ा रहकर चने चबाता हुआ यों चाहे कि मुझे प्यास न लगे तो क्या उसके न चाहनेसे इस कामका फल प्यासका लगना उसको न मिलेगा? अवश्य मिलेगा। कोई मनुष्य भंग पीकर यह चाहे कि इसका नशा मुझे न चढ़े, तो क्या उसकी इच्छानुसार नशा नहीं चढ़ेगा? अवश्य चढेगा। इसी तरह जैसा कुछ कर्म यह जीव पैदा करेगा, वह चाहे तो उसका फल भोगना-योग्य समझे या अयोग्य; कर्मको इस बातसे कुछ मतलब नहीं। वह तो

समय आ जानेपर भंगकी तरह अपना नशा चढ़ाकर उसकी बुद्धि सुधार बिगाड़ कर ऐसा मौका उपस्थित कर देगा, जिससे कि वह जीव स्वयं अच्छा बुरा फल भोग लेगा। यानी होनहार फलके अनुसार कर्मके नशेके निमित्तसे उसकी बुद्धि ऐसी हो जायगी कि वह ऐसा कोई कार्य कर बैठेगा जिससे कि अच्छा बुरा फल अपने आप उसके सामने आ जायगा। "प्रभू जाहि दारुण दुख देहीं, ताकी मति पहले हर लेहीं।" कवीश्वरका यह वाक्य कर्मसिद्धांतकी अच्छी पुष्टि करता है, अंतर केवल इतना है कि प्रभू शब्दका अर्थ कर्म ही समझना चाहिये। इसलिये स्वामीजीकी पहली शंका तो यों हट जाती है।

दूसरी शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म यद्यपि जड़ हैं उन्हें उचित-अनुचित कार्योंके अनुसार अच्छा-बुरा फल देनेका ज्ञान नहीं है किंतु प्रथम तो जड़ पदार्थोंमें अनंत शक्तियां हैं, जिनका अनुभव आप बेतारका तार, बिजली, गैस आदि पदार्थोंसे कर सकते हैं। यहां यह शंका नहीं करना कि जीव ही अपनी शक्तिसे इन जड़ पदार्थोंसे तरह तरहके अद्भुत काम लेता है। इसलिए जड़ पदार्थमें अनन्त शक्तियां नहीं हैं क्योंकि अद्भुत काम करनेकी विचित्र मूल शक्तियां तो जड़ पदार्थोंमें ही हैं, मनुष्यके निमित्तसे तो वे केवल प्रगट हो जाती हैं। जीव स्वयं अपनी उपादान-शक्तिसे इन विचित्र कार्योंको नहीं कर सकता है। शर्दी पड़ना, गर्मीका होना, पानी वरसना आदि हजारों कार्य केवल जड़ पदार्थ स्वयं एक दूसरेके संयोगसे ठीक नियमानुसार करते देखे जाते हैं। अतः कर्म जड़ पदार्थरूप भी हुए तो क्या हुआ जीवको अच्छा बुरा फल नियमानुसार देनेकी शक्ति उनमें मानना या होना कोई आश्चर्य या असंभव बात नहीं है। दूसरे—केवल जड़ पदार्थ कर्मको इस कार्यके लिए माना जाय तो आश्चर्यजनक या असंभव बात हो सकती है। जैनधर्मने तो यह माना है कि जीवके संयोगसे जड़ कर्मोंके अन्दर ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि वे जीवका नियमानुसार फल दे देते हैं, ऐसा होना कोई असंभव नहीं है क्योंकि जो

जड़ पदार्थ स्वतंत्र भी विचित्र कार्य कर दिखाते हैं तो जीवका संयोग पाकर वे ऐसा कार्य कर दिखावें इसमें क्या आश्चर्य है ? देखिये ! जो शराव जड़ पदार्थोंके संयोगसे नशा प्रगट नहीं कर सकती है, वही शराव जीवका संयोग पा कर पेटमें पहुंच जाने पर ठीक नियमानुसार शरावी मनुष्यकी शक्तिको तौल कर ठीक समय पर नशा चढ़ा देती है। वस! यही वात कर्मोंकी भी है, उनमें भी जीवके संवन्धसे उसे उचित फल देनेकी शक्ति पैदा होजाती है, जिससे कि ठीक वरावर जैसा चाहिये वैसा फल उसे मिल जाता है। फल पाते समय जीवको यह नहीं वतलाया जाता है कि यह फल तुम्हें अमुक काम करनेके वदलेमें दिया जाता है, इससे भी सिद्ध होता है कि फल देनेवाला पदार्थ जड़ है, अन्यथा यदि कोई चेतन पदार्थ ईश्वर आदि होता तो उस समय यह अवश्य वतला देता कि तुम्हें यह दण्ड अमुक काम करनेका दिया जाता है।

कर्मसिद्धांतके विषयमें यह शंका भी खड़ी नहीं हो सकती है कि जड़ कर्मोंसे जीवके ज्ञान आदि गुण कैसे ढांके जा सकते हैं ? क्योंकि हमको हजारों उदाहरण ऐसे मिल रहे हैं जो कि इस शंकाको जड़-मूलसे उड़ा देते हैं। देखिये ! शराव जड़ पदार्थ ही है किंतु वह पेटमें पहुँचते ही वुद्धि पर पर्दा डाल कर पागल वना देती है, क्लोरोफार्म एक जड़ पदार्थ ही तो है किंतु केवळ नाकसे सूंघ लेने पर ही तमाम सुध-वुधको भगा देता है। इत्यादि, अव ऐसा है तो कर्म भी जड़ पदार्थ हो कर जीवका संयोग पाकर उसके ज्ञान आदि गुणोंको क्यों नहीं विगाड़ सकते। इसलिये जीवको सुख-दुख देनेके लिये कर्मोंमें योग्यता मौजूद है। तदनुसार वे जीवको सुखी-दुखी किया करते हैं। स्वामीजी-के लिखे अनुसार परमेश्वरका इस विषयमें कुछ हाथ नहीं है।

जैनधर्मके इस कर्मसिद्धांतको सांख्यदर्शनने वहुत भागमें स्वीकार किया है, उसके माननेमें कुछ वातोंके सिवाय एक अंतर यह है कि उसने कर्मका नाम प्रकृति या प्रधान रक्खा है। स्वामीजीने जो सत्यार्थ-

प्रकाशमें सांख्यदर्शनको ईश्वरवादी (ईश्वरको सृष्टिकर्ता, हर्ता, कर्म-फलदाता माननेवाला) प्रगट कर दिखाया है। इसका कारण या तो उनकी मोटी भूल हो सकती है अथवा जान बूझ कर असत्य लिख अपनी बातको पुष्ट करना हो सकता है। अस्तु, आप लोग सांख्यदर्शन स्वयं देखकर इस विषय पर निश्चय करें, शांतिके साथ विचारें।

इस विषयको समाप्त करता हुआ मैं आपसे एक निवेदन करता हूं कि यह कर्मसिद्धांत जैनधर्ममें बड़े विस्तारके साथ बहुत अच्छे तौरसे बतलाया गया है। जिसका दिग्दर्शन भी आपके सामने नहीं आ पाया है। आप एकबार उसे जैनग्रंथोंद्वारा देखनेका कष्ट उठावें। मुझे पूरा विश्वास है कि आप उन्हें देखकर इस विषयमें संतोष प्राप्त करेंगे।

वेदोंको ईश्वर-प्रणीत समझना भारी भूल है।

(८)

सत्यप्रिय, विचारशील महाशयो ! अब मैं एक ऐसे विषयमें उतर रहा हूं जो कि आप लोगोंके सामने नवीन प्रकाश फैलावेगा। इस प्रकाशका फैलाना मुझे कई कारणोंसे आवश्यक दीखता है, जिसमें कि मुख्य कारण यह है कि 'स्वामीजीने वेदोंको अमान्य ठहरानेके कारण जैनधर्मको नास्तिक लिख डाला है।' जैनधर्मकी समालोचना करते समय जैसे उन्होंने अन्य विषयोंमें बहुत भारी गलती की है, उसी प्रकार इस विषयमें भी उन्होंने स्वयं गलती की है सो तो ठीक ही है, किन्तु साथ ही आर्यसंसारको, वेदोंको ईश्वर-प्रणीत बतला कर धोखेमें भी डाल दिया है। स्वामीजीका कर्तव्य था कि उन्होंने जैसे और असत्य पोपलीलाकी पोल खोली थी, उसी तरह वेदोंके विषयमें भी अपने सच्चे हृदयसे खुलासा प्रगट करते। किन्तु ऐसा न करते हुए उन्होंने इस कहावतको चरितार्थ किया कि "दूसरेके नेत्रकी फूली दीखती है किंतु अपना टेंट नजर नहीं आता है।" अतः वेद ईश्वरकृत हैं या नहीं? जैनधर्मने उन्हें न मान कर बुद्धिमानी की या नहीं? इत्यादि बातोंका खुलासा आपके सामने रख देना आवश्यक ही नहीं किन्तु बहुत उपयोगी है। इसलिये इस विषयको प्रारम्भ किया जाता है, आप इसे प्रेमके साथ अवलोकन करें।

तदनुसार प्रथम ही हम इस विषयका विचार करते हैं कि वेद ईश्वररचित हैं या नहीं?

वेदोंको ईश्वरने बनाया है, इस बातका उल्लेख स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशमें कई जगह किया है। जैसे कि सातवें समुल्लासके २१२वें पृष्ठ पर विद्यमान है कि "जो स्वयम्भु, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकार परमेश्वर है वह सनातन जीवरूप प्रजाके कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओंका उपदेश करता है।" अब विचार कीजिये कि स्वामीजीको यह लिखना कहां तक सत्य है।

जो वेद आजकल हम लोगोंको दिख रहे हैं वे यदि स्वामीजीके लिखे अनुसार ईश्वरने रचे हैं तो उनकी रचना तीन प्रकारसे हो सकती है—एक तो ऐसे कि ईश्वरने स्वयं कलम दवात लेकर वेदोंको लिख डाला हो और फिर उसकी नकल करके अन्य अन्य ऋषियोंने बहुत कापी कर ली हों। दूसरे इस तरह कि-ईश्वर बोलता गया हो और कोई पढ़ा लिखा-हुआ मनुष्य उसे लिखता गया हो। जैसे कि बहुतसे रईस लोग, अन्धे पुरुष या टोंटे मनुष्य यानी जिनका हाथ बेकाम होता है किया करते हैं। अथवा तीसरा प्रकार यह भी है कि ईश्वर लोगोंके हृदयमें या कानमें वेद सुना गया हो और उन लोगोंने अन्य लोगोंके हित पहुंचानेके विचारसे स्वयं पुस्तक रूपमें लिखकर तयार कर दिया हो। महाशयो! इन तीन मार्गोंके सिवाय और कोई चौथा मार्ग नहीं दीखता है कि जिसके सहारेसे ईश्वरने वेद रचकर तयार कर दिये हों।

इनमेंसे पहले मार्गसे तो वेदोंका बनना असम्भव है क्योंकि जिस ईश्वरको स्वामीजीने सर्वव्यापक और निराकार माना है, उसके हाथ कहांसे आ सकते हैं? और हाथोंके बिना वह स्वयं लिख भी कैसे सकता है? इसके सिवाय मुख्य बात यह कि स्वयं स्वामीजीने भी ईश्वर द्वारा वेदोंकी उत्पत्ति इस प्रकार नहीं मानी है।

दूसरा मार्ग भी वेदोंकी रचनामें बाधा डालता है क्योंकि ईश्वर निराकार है उसके जब मुख और जीभ ही नहीं, तब वह स्वयं बोल कर वेदोंको लिखा भी कैसे सकता है? तथा स्वामीजी भी ऐसा नहीं मानते हैं।

अब तीसरे पक्षकी भी परीक्षा कीजिये, क्योंकि स्वामीजी खुलासा रूपसे तो नहीं किंतु गोलमाल तौरसे वेदोंकी रचना इसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसा कि सातवें समुल्लासमें २१२ वें पृष्ठपर उन्होंने लिखा भी है कि "प्रथम सृष्टिकी आदिमें परमात्माने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियोंकी आत्मामें एक एक वेदका प्रकाश किया।" प्रथम तो ईश्वर जब सर्वव्यापक है तब उसमें उपदेश देनेरूप हलन-

चलन क्रियाका होना असम्भव है। दूसरे यदि कुछ देरके लिये ऐसी क्रिया भी मान ली जाय तो, वह क्रिया भी सर्वव्यापक ईश्वरके सर्वव्यापिनी ही होगी। फिर ऐसी अवस्थामें सृष्टिके प्रारंभमें सभी जीव जब कि अशिक्षित अज्ञानी रहते हैं तो वह ईश्वरका सर्वव्यापी उपदेश सब जीवोंके हृदयमें पहुंचना चाहिये जिससे कि सभी जीव वेदरचना कर सकें। ऐसा न होकर केवल अग्नि आदि चार ऋषियोंके हृदयमें ही और वह भी केवल एक एक वेदका प्रकाश क्योंकर हुआ? क्योंकि सर्वव्यापक ईश्वरकी क्रिया एकदेशी नहीं हो सकती है।

दूसरी बात यह भी है कि ईश्वरने स्वामीजीके लिखे अनुसार अग्नि आदि चार ऋषियोंको उपदेश दिया था। फिर उन ऋषियोंने वैसा उपदेश अन्यको दिया, उसने वैसे उपदेशसे दूसरोंको पढ़ाया। इस प्रकार परंपरा चलते चलते जब स्मरणशक्ति क्षीण होने लगी, तब उन्होंने उन उपदेशोंको अक्षररूपमें लिख डाला जो कि आज दिन हमारे सामने मौजूद है। क्योंकि लिपिलेखनका प्रचार इतिहास द्वारा बहुत प्राचीन सिद्ध नहीं होता है। ऐसा न होकर यदि अग्नि आदि ऋषियोंने ही उसे लिख डाला हो तो भी न्यायानुसार वह लिखा हुआ वेद नामक ग्रन्थ, ईश्वरप्रणीत कह कर ईश्वरके ज्ञानकी हीनता तथा हास्यजनक नमूना तो नहीं बतलाना चाहिये। क्योंकि जैसे स्वामी विरजानन्दजीसे पढ़े हुए भी स्वामी दयानन्दजी द्वारा बनी हुई सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकें जब स्वामी दयानन्दजीकृत ही कही जाती हैं। स्वामीजीने कहीं भी उनके ऊपर विरजानन्दजीकी छाप नहीं लगाई है, तब फिर ऋषियों द्वारा लिखे गये वेद भी ऋषिरचित ही हो सकते हैं। उन्हें ईश्वरप्रणीत कहना अन्याय करना, सत्यको छिपाना और लोगोंको धोखा देना है। स्वामीजीकी इस सत्य बातको विचारिये कि, वेद ईश्वरने स्वयं अपने हाथोंसे लिखे नहीं, खुद बोल कर दूसरेसे लिखवाये नहीं; किन्तु उसने केवल चार ऋषियोंके हृदयमें चार प्रकारका उपदेश ही टपका दिया, जिसके सहारेसे उन ऋषियोंने अपनी बुद्धिके अनुसार यजुर्वेद, ऋग्वेद आदि

नाम रख कर पुस्तकें लिख डालीं अब उन पुस्तकोंको स्वामीजी किस आधारसे ईश्वरप्रणीत कहते हैं ? उन ऋषियोंने ईश्वरके उपदेशानुसार ही ठीक जैसेके तैसे वेद अक्षररूपमें लिख डाले थे, इस बातका स्वामीजीके पास क्या प्रमाण है ? वे ऋषि भी तो आखिर असर्वज्ञ संसारी मनुष्य ही थे, ईश्वरकी अपेक्षा अल्पज्ञानी थे, रागी-द्वेषी उनका आत्मा था, फिर उन्होंने अपने ज्ञानकी कमीसे या कदाचित् बुद्धिप्रखरतासे तथा रागके निमित्तसे अथवा द्वेषके आधारसे उस ईश्वरके उपदेशको अक्षररूपमें कम, अधिक या कुछका कुछ क्यों न लिख डाला होगा ? क्योंकि ऐसा हुआ ही करता है कि गुरु अपने शिष्यको कुछ समझाता है किंतु शिष्य अपनी बुद्धि और मंतव्यानुसार पुस्तकोंमें कुछका कुछ लिख डालता है। क्या स्वामी दयानन्दजीको विरजानन्दजीने जो कुछ पढ़ाया था, उन्होंने ठीक वही ज्योंका त्यों अपनी पुस्तकोंमें लिख दिया है ? इसको स्वामीजी बतला सकते हैं।

इसलिये मित्रो ! वेदोंके बनाने वाले (लिखनेवाले) थे तो ऋषि। जैसा कि स्वामीजीके लेखसे प्रगट होता है और हो भी सकता है क्योंकि पुस्तक मनुष्य ही लिख सकता है किंतु इस सत्य बातको छिपाकर स्वामीजीने ईश्वरको उनका रचनेवाला बतला दिया।

स्वामीजी इसी बातको प्रश्न-उत्तरके रूपमें सत्यार्थप्रकाशके सातवें समुल्लासके २१२ वें पृष्ठपर यों लिखते हैं (प्रश्न) "(ईश्वर) जब निराकार है तो वेदविद्याका उपदेश विना मुखके वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा। क्योंकि वर्णोच्चारणमें ताल्वादि स्थान जिह्वाका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये।" इसके उत्तरमें स्वामीजी लिखते हैं (उत्तर) "परमेश्वरको सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होनेसे जीवोंको अपनी व्याप्तिसे वेदविद्याके उपदेश करनेमें मुखादिककी कुछ भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि मुख जिह्वासे वर्णोच्चारण अपनेसे भिन्नके बोधके लिये किया जाता है कुछ अपने लिये नहीं क्योंकि मुख जिह्वाके व्यापार करे विना ही मनमें अनेक व्यवहारोंका विचार शब्दोच्चारण होता रहता है।

कानोंको अंगुलियोंसे मूंदके देखो और सुनो कि विना मुख जिह्वा ताल्वादि स्थानोंके कैसे शब्द हो रहे हैं। वैसे ही जीवोंको अन्तर्यामी रूपसे उपदेश किया है, किंतु केवल दूसरेको समझानेकेलिये उच्चारण करनेकी आवश्यकता है। जब परमेश्वर निराकार सर्वव्यापक है तो अपनी अखिल वेदविद्याका उपदेश जीवस्थरूपसे जीवात्मामें प्रकाशित कर देता है। फिर वह मनुष्य अपने मुखसे उच्चारण करके दूसरेको सुनाता है, इसलिये ईश्वरमें यह दोष नहीं आ सकता।"

प्रिय सज्जन महाशयो! विचार कीजिये कि स्वामीजी कैसी अच्छी गोलमाल युक्ति देकर अपने ऊपरसे भार उतारते हैं, वे कहते हैं कि ईश्वरको जीवोंके लिये उपदेश देनेके वास्ते मुखादिककी जरूरत नहीं है मानो ईश्वर जब जड़-पदार्थोंको उपदेश देगा तब मुखकी आवश्यकता होगी, जीवोंकेलिये नहीं। पुनः लिखते हैं कि वर्णोच्चारण अपनेसे दूसरे मनुष्यके लिये किया जाता है, तो क्या ईश्वरने जो कुछ वेदोंका उपदेश किया वह स्वयं अपने लिये ही कहा? स्वयं वक्ता और स्वयं श्रोता (सुननेवाला) बना? जिससे कि उसे वर्णोच्चारणकी आवश्यकता नहीं हुई? क्या तमाशा है कुछ समझमें नहीं आता। सर्वशक्तिमान ईश्वरसे बहाना लगाकर स्वामीजीने चाहे जो कुछ करा लिया है। प्रमाणसे ईश्वर अनन्तशक्तिमान तो हो सकता है किंतु 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं'की शक्तिधारक यानी चाहे जैसा कुछ करनेकी शक्तिवाला ईश्वर नहीं हो सकता है क्योंकि प्राकृतिक बातोंको पलटानेकी शक्ति किसीमें भी होना असंभव है, इसको स्वयं स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशमें स्वीकार किया है। हम स्वामीजीके उपर्युक्त उत्तरका अक्षरशः, शब्दशः प्रतिवाद करके व्यर्थ ही आपका समय नहीं लेना चाहते हैं। आप स्वयं उसे विचार कर देखें कि स्वामीजीने कितना निर्बल और बनावटी उत्तर देकर प्रश्न टालना चाहा है। अतः हम इस बातको यहीं छोड़कर आगे बढ़ते हैं—

वेद ऋषियोंद्वारा रचे हुए ही हैं उनका रचयिता ईश्वर नहीं है; इस

बातको हम ऊपर युक्तिपूर्वक सिद्ध कर आये हैं। अब इसी बातको सिद्ध करनेके लिये हम वेदोंका ही प्रमाण आपके सामने पेश करते हैं, आप कदाचित् मेरी दलीलपर उतना अधिक विचार न भी करेंगे जितना कि वेदोंके प्रमाणोंपर ध्यान दौड़ावेंगे। अस्तु।

स्वामीजीके लेखका आधार लेकर तथा और कोई रास्ता न देखकर यदि कोई आर्यभ्राता अपना कड़ा जी करके वेदोंको ऋषि-प्रणीत कहनेका साहस करे तो मेरी समझमें वह वेदोंके रचयिता-अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियोंको कह सकेगा किन्तु हम कहते हैं कि वेदोंके रचयिता चार छह ऋषि नहीं किन्तु सैकड़ों ऋषि हैं। किसी ऋषिने १० तो किसीने २० तीसरेने ४० इत्यादि मन्त्र बनाकर रख दिये हैं, किसीने अपने मन्त्रोंमें कुछ मनोरथ दिखलाया तो दूसरेने कुछ, इस प्रकार वेद एक बहुत बड़े चिट्ठेका नाम हो गया। जिसमें शक्ति अनुसार ऋषि कुछ कुछ मन्त्र बनाकर रखते गये, आगे जब कि किसी ऋषिने इस चिट्ठेको पूरा हुआ समझ लिया तब उसने सबको इकट्ठा करके संहिता-विशेषण लगाकर पुस्तकरूपमें खड़ा कर दिया। इस प्रकार वेद बन पाये तो सैकड़ों वर्षोंमें; किन्तु स्वामीजीने लिख दिया यह कि परमात्माने सृष्टिकी आदिमें वेदोंको झट तयार कर दिये। इतने बड़े ग्रंथको बनानेमें उसे १०-५ दिन भी नहीं लगे। ठीक तो है, सर्वशक्तिमान ईश्वर क्या इतना भी नहीं कर सकता है? किन्तु मित्रो! खेद है कि स्वामीजीकी बातको स्वयं वेद ही असत्य कह रहे हैं, आप जरा वेदोंको हाथमें उठाकर चाहे जिस सूक्त या मन्त्रको देख लीजिये, आपको उस मन्त्रके तथा सूक्तके ऊपर उसके रचयिता ऋषिका नाम अवश्य दीख पड़ेगा। अब कुछ समयके लिये यही विवरण अपनी निगाहसे निकालिये।

प्रिय मित्रो! चारों वेदोंमें सबसे प्रथम ऋग्वेद बनकर तयार हुआ था इसका प्रारम्भ मधुच्छन्दस् ऋषिने जो कि विश्वामित्र ऋषिका पुत्र था किया है। विश्वामित्र रामचन्द्र, लक्ष्मणके जमानेमें हुए हैं। अतः

वेदोंका रचना प्रारम्भ रामचन्द्रजीके समयसे हुआ है, इसं ऋग्वेदकी समाप्ति अघमर्षण नामक ऋषिने की है। ऋग्वेदके प्रारम्भमें लिखा है कि—

अथाद्यिमस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

यानी—इस पहले ६ ऋचाओंवाले सूक्तका बनानेवाला मधुच्छन्दस् ऋषि है। इस सूक्तका देवता अग्नि है, इसमें गायत्री छन्द और षड्ज स्वर है।

ऋग्वेदमें जो गीत (भजन) हैं उनका नाम सूक्त है। उन सूक्तों की एक एक कलीको ऋचा कहते हैं, इन ऋचाओंके समुदायरूप सूक्तोंका संग्रह होनेसे ही वेदका नाम ऋग्वेद है। सबसे पहले बनकर यही तयार हुआ है। इसके पीछे इसीके आधारसे यजुर्वेद बनाया गया है। सामवेद तो प्रायः ऋग्वेदके उन गीतोंका समूह है जोकि गाने योग्य समझे गये हैं। चौथा जो अथर्ववेद है वह इन तीनों वेदोंसे बहुत पीछे बना है। मनुस्मृति आदि अनेक ग्रन्थोंमें इसका नाम नहीं पाया जाता। ऐसा मालूम होता है कि अथर्ववेद भोज राजाके भी पीछे बना है क्योंकि भोज राजाके समयमें बने हुए अमरकोषमें भी केवल तीन वेदोंका ही नाम आया है। जैसे—प्रथमकाण्ड शब्दादि वर्ग श्लोक ३।

श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी धर्मस्तु तद्विधिः।
स्त्रियामृक्सामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी ॥

अर्थात्—श्रुति, वेद, आम्नाय और त्रयी ये नाम वेदके हैं। वे वेदविहित विधिको धर्म कहते हैं। ऋक्, साम, यजुः इन तीन वेदोंको त्रयी कहते हैं।

इससे सिद्ध होता है कि अथर्ववेद आधुनिक है क्योंकि उसका नाम इस कोषमें भी नहीं पाया जाता है। अस्तु।

ऋग्वेदके प्रत्येक सूक्तपर तथा यजुर्वेद आदिके प्रत्येक मन्त्रपर प्रारम्भमें चार बातें लिखी हुई हैं। १-इस मन्त्र या सूक्तका बनानेवाला अमुक ऋषि है। २—इसका देवता अमुक है; जिसकी कि उसमें पूजा, प्रार्थना आदि की गई है। ३-इस मन्त्र या सूक्तका अमुक छन्द है और चौथे इसको गानेका स्वर अमुक है।

ऋग्वेदके प्रथम सूक्तमें ऊपर चारों बातें बतला दी हैं। इस सूक्तका रचयिता मधुच्छन्दस् ऋषि है, इसके पिताका नाम विश्वामित्र और पुत्र का नाम जेतृ (जेता) था विश्वामित्रके पिताका नाम गाथी था और इस गाथीका पिता कुशिक था, इसीके नाम पर इसकी वंशपरम्पराकी संज्ञा कौशिक हुई है। कौशिक यह नाम इसी कारणसे विश्वामित्रका दूसरा नाम है। इस तरह कुशिक मधुच्छन्दस् ऋषिका प्रपितामह था। इन पांचों ऋषियोंने अनेक मंत्र रचे हैं। इस कारण यह मालूम होता है कि इस घरानेका यह काम होगा कि प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ वेद-मंत्र तयार अवश्य करे। मधुच्छंदस्के पुत्र जेताने ऋग्वेदका केवल ११वां सूक्त ही बनाया है।

दूसरे सूक्त पर ऐसा लिखा है—

अथ नवर्चस्य. द्वितीयसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः।

अर्थात्—नौ ऋचावाले दूसरे सूक्तका रचयिता मधुच्छन्दस् ऋषि है।

इस प्रकार १०वें सूक्त तक इसी मधुच्छंदस् ऋषिका नाम लिखा हुआ है। उसके आगे ११वें सूक्त पर मधुच्छन्दस् यानी मधुच्छन्दस्-का पुत्र जेता ऋषिका नाम लिखा है। तदनन्तर—

अथ द्वादशर्चस्य द्वादशसूक्तस्य काण्वो मेधातिथि ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री छन्दः। षड्जः स्वरः।

यानी—इस १२ ऋचाओंवाले बारहवें सूक्तका जन्मदाता कण्व-ऋषिका पुत्र मेधातिथि ऋषि है। इस सूक्तमें देवता, अग्नि, छन्द गायत्री और स्वर षड्ज है।

इस प्रकार २३वें सूक्त तक इसी मेधातिथि ऋषिका नाम पड़ता गया है, उसके आगे २४वें सूक्त पर यों लिखा है—

अथास्य पंचदशर्चस्य चतुर्विंशस्य सूक्तस्य आजीगर्ति शुनःशेयः कृत्रिमो वैश्वामित्रो देवरातिर्ऋषिः। प्रजापतिः अग्निः सविता भगो वा वरुणश्च देवताः। त्रिष्टुप् गायत्री छन्दः। धैवतः षडजश्च स्वरौ।

भावार्थ—इस १५ ऋचाओंवाले चौबीसवें सूक्तके कर्ता अजीगर्त ऋषिका पुत्र शुनःशेय, विश्वामित्रका कृत्रिम पुत्र देवराति ऋषि है। प्रजापति, अग्नि, भग, सविता और वरुण देवता हैं। छन्द त्रिष्टुप् गायत्री और स्वर धैवत तथा षड्ज है।

यह शुनःशेय यद्यपि अजीगर्त ऋषिका पुत्र था किंतु १०० गायोंको ले कर अजीगर्तने इसे हरिश्चन्द्र राजाको नरमेध यज्ञ (जिसमें मनुष्य मार कर हवन किया जाय) के लिये दे दिया था। तदनुसार शुनःशेयको यज्ञभूमिमें खम्भेसे बांध दिया गया था, फिर जिस समय इसको यज्ञमें हवन करनेके लिये मारनेको उठे तब इसने विश्वामित्र ऋषिके कहे अनुसार अग्नि आदि देवताओंसे प्रार्थना की, तब इसका बन्धन छूट गया और यह बेचारा वैदिकधर्मके आदर्शयज्ञ नरमेधमें हवन होनेसे बचा। फिर विश्वामित्रने इसका नाम देवराति रखकर अपने पुत्र समान माना। यह कथा ऐतरेयब्राह्मणमें जिसको कि स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं लिखी हुई है। इस कारण स्वामीजीने भी प्रसिद्धिके अनुसार इसके आजीगर्ति (अजीगर्तका पुत्र) शुनःशेय (हवनमें वध होने तकका नाम) कृत्रिम वैश्वामित्र यानी बनावटी-विश्वामित्रका पुत्र और देवराति जो कि हवनमें वध होनेसे बच कर पीछे रक्खा गया था, ये चारों नाम इस सूक्त पर लगा दिये हैं। इस नरमेधयज्ञके सूचक अनेक ऋचायें मंत्र विद्यमान हैं।

इसके आगे—

अथैकविंशत्यृचस्य पंचविंशस्यसूक्तस्याजीगर्तिः शुनःशेयऋषिः। वरुणो देवता। गायत्री छन्दः। षड्ज स्वरः।

यानी—इस २१ ऋचा (मंत्र) वाले पच्चीसवें सूक्तका बनानेवाला अजीगर्तका पुत्र शुनःशेय ऋषि है। देवता वरुण, छन्द गायत्री और स्वर षड्ज है।

इस शुनःशेय ऋषिका नाम ३०वें सूक्त तक चला गया है, इसके आगे ३१वां-३२वां सूक्त अङ्गिराके पुत्र हिरण्यस्तूपने बनाये हैं। जिसका उल्लेख यों है—

अथाष्टादशर्चस्यैकत्रिंशत्तमस्य सूक्तस्याङ्गिरसो हिरण्यस्तूप ऋषिः। अग्निर्देवता।

अर्थात्—इस अठारह ऋचावाले इकतीसवें सूक्तका रचयिता आङ्गिरस हिरण्यस्तूप ऋषि है। देवता अग्नि है।

इसके आगे घोरपुत्र कण्वऋषि, प्रस्कण्व, सव्य, गौतम नोधा, पराशर, राहुगणपुत्र, गोतम, कुत्स, अम्बरीश, ऋज्र, सहदेव, भयमान, सुराधस्, कक्षीवान, मयोभू, वायु, गृत्समद, भारद्वाज, त्रिशुद्वीप, विश्वमना, चित्र, तित्र, उत्कील, विश्वामित्र, आत्रेय, सोमाहुति, विरूप, वारुणि, जमदग्नि, नाभानेदि, वत्सप्री, श्यावाश्व, तापस, वशिष्ठ, दीर्घतमस्, विश्वावसु, कुमारहारित इत्यादि सैकड़ों ऋषियोंके नाम अपने अपने सूक्त पर उल्लिखित होते गये हैं, जिससे कि स्वतःसिद्ध होता है कि सैकड़ों ऋषियोंके बनाये हुए मंत्रोंके संग्रहका नाम ऋग्वेद है। अब कुछ यजुर्वेदका नमूना भी देखिये—

ग्यारहवें अध्यायके प्रारंभमें लिखा है—

युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। सविता देवता।

अर्थ—युञ्जान इत्यादि ८३ मंत्रवाले इस ११वें अध्यायका बनानेवाला प्रजापति ऋषि है। सविता देवता है।

इसके आगे १२वें अध्याय पर—

दृशान इत्यस्य वत्सप्री ऋषिः। अग्निर्देवता।

अर्थ—दृशान इत्यादि ११३ मंत्रवाले इस बारहवें अध्यायका रचनेवाला वत्सप्री ऋषि है। देवता अग्नि है।

तदनन्तर तेहरवें अध्याय पर—

तत्र मयिगृह्णामीत्याद्यस्य वत्सार ऋषिः। अग्निर्देवता।

भावार्थ—मयि गृह्णामि इत्यादि रचयिता वत्सार ऋषि है। देवता अग्नि है।

पुनः चौदहवें अध्याय पर—

ध्रुवक्षितिरित्यस्योशना ऋषिः। अश्विनौ देवते।

तात्पर्य—इस ध्रुवक्षिति इत्यादि मन्त्रका बनानेवाला उशनस् ऋषि है। अग्नि, वायु देवता है।

पश्चात् पन्द्रहवें अध्याय पर यों लिखा है—

अग्नेजातनित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः।

सार—अग्ने जातान् इत्यादि मन्त्रका रचनेवाला परमेष्ठी ऋषि है। इसका देवता अग्नि, छन्द त्रिष्टुप् और स्वर धैवत है।

इस प्रकार प्रत्येक मन्त्र पर भिषक्, विश्वदेव, वामदेव, अप्रतिरथ, कौण्डिन्य, वैखानस, हेमवर्चि, शंख, विधृति, लोपमुद्रा, देव, वरुण आदि ऋषियोंके नाम अङ्कित हैं। इस कारण सिद्ध होता है कि सैकड़ों ऋषियोंके परिश्रमसे रचे हुए मन्त्रोंके समूहका नाम ही यजुर्वेद है।

वेदमंत्रोंके ऊपर इस प्रकार अङ्कित हुए ऋषियोंके नामोंको देखकर यद्यपि यह स्वयं सुगमतासे सिद्ध हो जाता है कि यह मंत्र अमुक ऋषिने बना कर तयार किया है किंतु इस बातका निराकरण सनातन धर्मावलम्बी विद्वान् तथा स्वामीजी बनावटी कारणोंको बतला कर करते हैं जो कि इस प्रकार है—सनातनी विद्वान् कहते हैं कि, ब्रह्माजीने अपने चार मुखोंसे चारों वेद उत्पन्न किये थे एक बार उन वेदोंको रखकर ब्रह्माजी कहीं गये थे कि इतनेमें एक दैत्यने उनको नष्ट करनेके लिये वेदोंको समुद्रमें डाल दिया और आप स्वयं बड़ा मत्स्य बनकर पातालमें चला गया। फिर क्या था, उस समय इस जगतमें जितने भी ऋषि थे वे मछलियां बनकर समुद्रमें कूद पड़े सो वेदोंके उन बिखरे हुए पत्रों

के मुखमें दबा दबा कर किनारे पर ले आये। इस प्रकार जिस ऋषिने जितने पत्र निकाले उतने पत्रोंके मंत्रों पर उस ऋषिका नाम ब्रह्माजीने लिख दिया। अतः वे ऋषि उन वेदमंत्रोंके रक्षक हैं, विधाता नहीं हैं। सनातनधर्मावलंबियोंका यह उत्तर तो पौराणिक-गपोड़ेका बड़ा भाई है। अतः इस विषयमें विचार चलाना व्यर्थ है। स्वामीजी इस विवरण-का उत्तर यों देते हैं कि "पहले ज़मानेमें १ एक राजा अपने अपने नगर-में बालकोंको पढ़ानेके लिये अनेक पाठशालाएं खोलता था उसमें पढ़ा-नेके लिये जो अध्यापक होते थे, उनको वेदोंमेंसे कुछ कुछ हिस्सा दे दिया जाता था कि सिर्फ इतने भागको ही पढ़ाओ, इस प्रकार प्रत्येकको अलग अलग प्रकरण खूब विचारने और पढ़ानेकेलिये दिया जाता था। वे अध्यापक उन नियत मंत्रोंका अर्थ खूब समझते, विचारते, मनन करते रहते थे। जिस विद्वान् ऋषिने जिस मंत्रका अर्थ सबसे अधिक समझा उसीका नाम उस मंत्र पर डाल दिया गया। इस प्रकार उन विद्वानोंके नाम मन्त्रोंके ऊपर उल्लिखित हैं"। ऐसा ही उत्तर हम वृन्दावन तथा कांगड़ी गुरुकुलमें २०-२० वर्ष अध्ययन किये हुए विद्यालंकारोंसे भी सुन चुके हैं इससे अधिक मजबूत प्रामाणिक उत्तर उनके पास कुछ नहीं है। अब विचारिये, यह उत्तर कितना निर्बल और बनावटी है।

पुस्तकोंके ऊपर उसके लिखनेवालेका नाम तो अलबत्त रहता है जैसा कि मनुस्मृति, महाभारत, उपनिषद्य आदि पर मौजूद है। सत्यार्थ-प्रकाश पर स्वामीजीका नाम लिखा हुआ है. अब तक इन ग्रन्थोंको हजारों मनुष्योंने खूब समझा, विचारा तथा मनन किया होगा किंतु हम देखते हैं कि सिवाय ग्रन्थ-लेखकके नामके उनपर अन्य किसीका भी नाम अङ्कित नहीं है और न हमें अभी तक किसी इतिहाससे ऐसा मालूम ही हुआ है कि पहले जमानेमें ऐसा नियम था कि जो जिस पुस्तकको समझ ले वह उस पुस्तक पर पुस्तक-लेखकका नाम हटा कर अपना लिख देवे। इसका उदाहरण. वेदमन्त्रों पर उल्लिखित नामवाले कतिपय ऋषियोंके बनाये हुए अन्य ग्रन्थ हैं, जिन पर कि मूल-ग्रन्थका-

रक्खा ही नाम है फिर न मालूम स्वामीजी यह हेतुका पचड़ा किस आधारसे लगाते हैं और गुरुकुलमें बीस बीस वर्ष अध्ययन करके आर्यविद्वान् ऐसे निर्बल असत्य हेतुओं पर कुछ भी विचार नहीं करते। दूसरे—जिन ऋषियोंका नाम वेदमन्त्रों पर लिखा हुआ है उन ऋषियोंके जीवनकालमें सैकड़ों वर्षोंका अन्तर है। कोई रामचन्द्रजीके समयका है तो कोई महाभारतके समयका है, फिर पाठशालाएं खुलते समय सैकड़ों वर्षोंके आगे-पीछेवाले ऋषि उन पाठशालाओंमें पढ़ाने कैसे आ गये? और जिन मन्त्रों पर एक ऋषिने मनन किया, क्या हजारों वर्षके जमानेमें उन मन्त्रोंका विशेष अर्थ किसी और ऋषिने नहीं समझ पाया? जिसके एक एक मन्त्रपर अनेक नाम लिखे जाते? तथा विश्वामित्र, पराशर, वशिष्ठ आदि सरीखे प्रख्यात विद्वान् ऋषि समस्त वेदोंके मंत्रोंको नहीं समझ पाये थे? कुछ मन्त्रोंको ही समझ पाये थे? यदि उन्होंने सम्पूर्ण वेद मन्त्रोंको समझ लिया था तो उनका नाम समस्त मन्त्रों पर क्यों नहीं लिखा गया? कतिपय मन्त्रों पर ही क्यों? यदि सम्पूर्ण वेदमन्त्रोंको किसी भी ऋषिने नहीं समझ पाया था तो फिर वेदोंके भाष्य और उपनिषद् ब्राह्मण आदि किस प्रकार बन गये? एवं वेदोंके मन्त्रोंका यथार्थ सारांश तो स्वामीजीने समझा था, फिर उन्होंने समस्त मन्त्रोंपर अपना नाम क्यों नहीं जड़ दिया? इत्यादि रूपसे आप लोग यदि विचार करें तो आपको जान पड़ेगा, यह सब असत्य, बनावटी झोपड़ा है जो कि विचारोंके सामने तितर बितर हो जाता है।

इसके सिवा अनेक वेदमन्त्र स्वयं पुकार पुकार कर स्वामीजीके कथनका खंडन कर रहे हैं। उदाहरणके लिये मैं प्रथम ही ३-४ मन्त्र ऐसे आपके सामने रखता हूं जिनके अन्दर ऋषियोंके नाम उल्लिखित हैं—

ऋग्वेद प्रथम मण्डलके ३१वें सूक्तकी पहली ऋचा देखिये—

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १ ॥

इस ऋचाके ऊपर भी आङ्गिरस (अङ्गिराके पुत्र) ऋषिका नाम उल्लिखित है तथा मन्त्रमें भी उसके पिता अङ्गिरा ऋषिका नाम साफ तौरसे रक्खा हुआ है। स्वामीजीने इस अङ्गिरा शब्दका अर्थ खेंच-तान कर "ब्रह्माण्डके पृथिवी आदि शरीरके हस्त-पाद आदि अङ्गोंके रूप अर्थात् अन्तर्यामी" किया है।

प्रथम मण्डलके ३६वें सूक्तकी १०वीं ऋचा देखिये, इस सूक्तके ऊपर कण्व ऋषिका नाम है। तथैव इस ऋचामें भी इस ऋषिका नाम लिखा हुआ है—

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन ।
यं कण्वो मेध्यातिथिर्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः ॥ १० ॥

इस ऋचामें कण्व तथा मेधातिथि ऋषिका नाम मौजूद है। कण्व ऋषिका मेधातिथिका पुत्र था, इस कारण कण्वने इस मन्त्रमें अपने पुत्र-का भी नाम रख दिया।

(ऋग्वेद प्रथम मण्डल सूक्त २४ ऋ० १३)

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो विमुमोक्तु पाशान् ॥

यानी—जो शुनःशेप पकड़ा हुआ खम्भोंसे बंधा था उसने आदित्य देवताका आह्वान किया कि मुझे वरुण देवता छोड़ देवे।

खेद है कि स्पष्ट अर्थपर स्वामीजीने धूल डाल कर मनमाना अर्थ लिख मारा है।

(प्रथम मण्डल सूक्त, १०५ ऋचा १७)

त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये ।
तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी ॥

अभिप्राय—कुएमें पड़ा हुआ त्रित ऋषिने देवोंको अपनी रक्षाके लिये बुलाया वह प्रार्थना बृहस्पतिने सुनी और उसे कुंएसे निकाला।

इस मन्त्रका अर्थ करते हुए भी स्वामीजीने कुछका कुछ मतलब लिख दिखाया है। अस्तु। विद्यालङ्कार पदप्राप्त आर्यविद्वानो !

क्या आप लोगोंने वेद, संस्कृत, भाषा आदिकी विद्वत्ता स्वामीजीको झूठी लकीरके फकीर होनेके लिये प्राप्त की है ? यदि लकीरके फकीर होनेके लिये नहीं, तो फिर ऐसे स्पष्ट अर्थसूचक मन्त्रोंका सत्य अर्थ प्रकाशित करनेमें भी आपकी लेखनी कांपती है ?

प्रथम मंडलके ७८वें सूक्तकी पहली दूसरी ऋचाको देखिये—

अभित्वा गोतमा गिरा जातवेदो विचर्षणे ।
द्युम्नैरेभि प्रणोनुमः ॥ १ ॥
तमुत्वा गोतमो गिरा रायस्कामो दुवस्यति ।
द्युम्नैरेभि प्रणोनुमः ॥ २ ॥

इन दोनों ऋचाओंमें इस सूक्तके रचयिता गोतम ऋषिका नाम है ।

इसी प्रथम मंडलके १००वें सूक्तकी १७वीं ऋचाका निरीक्षण कीजिये—

एतत्त्यत्त इन्द्र वृष्ण उक्थं वार्षागिरा अभिगृणन्ति राधः ।
ऋज्राश्वः प्रष्टिभिरम्बरीषः सहदेवो भयमानः सुराधाः ॥ १७ ॥

इस सूक्तके बनानेवाले महाराज वृषागिरके पुत्रभूत (वार्षागिर) ऋज्राश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान, सुराधा नामक ऋषि हैं, उन्हीं ५ ऋषियोंके नामका उल्लेख इस ऋचामें है ।

यह १००वां सूक्त महाराज वृषागिरके ऋज्राश्व, अम्बरीष आदि ५ पुत्रोंने मिल कर बनाया है उन्हींको नाम इस ऋचामें आया है । सबोंने मिलकर इन्द्रके लिए भजन गाया है ।

इसप्रकार सैकडों वेदमंत्र हैं जिनमें कि अनेक ऋषियोंके नाम साफ तौरसे दर्ज हैं । ऐसा क्यों हुआ ? क्या परमेश्वरने यह समझ कर कि अमुक मन्त्रका अर्थ अमुक ऋषिको ही अच्छी तरहसे खुलेगा, इसलिये उसका नाम अभीसे इस मन्त्रमें रख देना चाहिये ? वास्तवमें बात तो यह है कि वेद मन्त्रोंके रचयिता ऋषियोंने जिस प्रकार होनहार स्वामीजीके ऊपर अनुग्रह विचार कर मन्त्रोंकी रचना की, स्वामीजीने उस प्रकार उनके प्रति कृतज्ञता नहीं दिखलाई ।

इसके सिवाय सबसे अधिक सबल प्रमाण वेदोंके प्रणीत होनेका यह है कि जिस यजुर्वेदके तैत्तरीय ब्राह्मणको स्वामीजीने वेदोंके समान प्रमाण माना है, उसी तैत्तरीय ब्राह्मण (यजुर्वेदका भाष्य)-के २२वें मन्त्रमें साफ लिखा है कि "मैं उन ऋषियोंको धन्यवाद देता हूं जिन्होंने वेदोंको बताया है।" दूसरे स्थानमें लिखा है कि "मैं उन ऋषियोंको धन्यवाद देता हूं जिन्होंने वेदोंको माना अर्थात् उनको अभ्यास और विश्वास किया।" ऐसा ही और भी अनेक स्थानोंमें लिखा है कि "वे ऋषि जिन्होंने वेदोंको बनाया और जिन्होंने वेदोंको माना, सदाकाल मेरी ओर लगे रहें। इसी तरह—"मैं उन ऋषियोंको जिन्होंने वेदोंको बनाया और जिन्होंने माना नहीं छोडूंगा।"

कहिये महाशयो! वेदोंके ऋषिप्रणीत होनेमें आपको अब भी कुछ संदेह रह जाता है? मेरी समझमें अब आप वेदोंको ईश्वर-रचित लिखनेमें स्वामीजीको अवश्य असत्य ठहरावेंगे। यदि इतने पर भी आप सत्य बोलनेके लिये शायद, तयार न हों। अतः वेदमन्त्रोंके कुछ और नमूने आपके सामने रखना उचित समझता हूं, जिनके अर्थको पढ़ कर आप अवश्य स्वयं बोल उठेंगे कि अवश्य ही स्वामीजीने वेदोंको ईश्वर-प्रणीत बतला कर जनताके सामने भारी असत्य बोला है। यद्यपि वेद मन्त्रोंका असली अभिप्राय सायणाचार्य, महीधर आदिने अपने अपने भाष्योंमें किया है, उन्होंने खुले दिलसे निःशङ्क होकर जैसेका तैसा अर्थ किया है और स्वामीजीने उन्हींके भाष्योंसे मन्त्रोंका अर्थ समझ कर वेदों पर प्रगट होनेवाले कलङ्कित लांछनोंसे बचानेके लिये हर तरह प्रयत्न किया है। अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र आदि देवतावाचक शब्दोंको तोड़-मरोड़ कर सभी जगह परमात्मा कर दिया है और तमाम विज्ञान, गणित आदिकी छाप लगा कर वेदोंकी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिए उन पर कलई की है किन्तु वह ठहरी तो कलई ही न; कहां तक छिप सकती है? स्थान-स्थान पर स्वामीजीके वचनको वही बनावटी भाष्यरूपी कलई असत्य ठहरा रही है। अस्तु। हमें खूब मालूम

है कि हमारे आर्य-समाज भाई स्वामी दयानन्दजीके सिवा अन्य किसीको सत्यलेखक विद्वान् नहीं समझते हैं, इस कारण हम भी आपके सामने स्वामीजी द्वारा किए हुए भाष्यका कुछ नमूना उपस्थित करते हैं ।

प्रथम ही ऋग्वेद भाष्यका नमूना देखिये कि स्वामीजोका ईश्वर लोगोंसे क्या मांग रहा है—

(प्रथम मण्डल सूक्त १६६ चौथी ऋचा)

हे बहुत पदार्थोंके देनेवाले ! आप तो हमारे लिये अतीव बलवती दक्षिणाके साथ दान जैसे दिया जाय वैसे दानको तथा इस दुग्धादि धनको दीजिये, जिससे आपकी तथा पवनकी भी जो स्तुति करनेवाली हैं वे मधुर उत्तम दूधके भरे हुए स्तनके समान चाहती और अन्नादिकोंके साथ बछरोंको पालती हैं ।

(सातवां मण्डल ३० सूक्त ऋचा ४)

हम लोग आपकी प्रशंसा करें, आप हम लोगोंके लिये धनोंको देओ ।

(सातवां मण्डल सूक्त ३७ ऋचा ५)

हे सद्गुण और हरणशील घोड़ोंवाले ! हम लोग आपके जिन पदार्थोंको मांगते हैं उनको आश्चर्य है, आप हम लोगोंके लिये कब देओगे ।

(चौथा मण्डल सूक्त ३२ ऋचा, १८-१९)

हे धनके ईश ! आपका धन हम लोगोंमें प्राप्त हो और आपकी गौके हजारों और सैकड़ों समूहको हम लोग प्राप्त होवें ।

हे शत्रुओंके नाश करनेवाले ! जिससे आप बहुतोंके देनेवाले हो, इससे आपके सुवर्णके बने हुए घड़ोंके दशसंख्यायुक्त समूहको हम लोग प्राप्त होवें ।

(पंचम मण्डल छठा सूक्त ७ वीं ऋचा)

हे दाता...... स्तुति करनेवालोंके लिये अन्नको अच्छे प्रकार-धारण कीजिये ।

(पांचवा मण्डल सूक्त, ६१ ऋचा ६)

वेदार्थके जाननेवाले इन लोगोंको गौओंके पीने योग्य दुग्ध आदिमें नहीं निरादर करिये ।

(प्रथम मण्डल सूक्त, ५७ ऋचा ५)

हे सेनादि बलवाले सभाध्यक्ष ! आप इस स्तुतिकर्ताकी कामनाको परिपूर्ण करें । इत्यादि अनेक ऋचाएं ।

महाशयो ! ईश्वर किस प्रकारसे याचना कर रहा है इस बात पर गौर देकर विचार कीजिये क्योंकि इन्हीं मंत्रोंका बनानेवाला स्वामोजीके मतानुसार ईश्वर है ।

अब कुछ नमूना श्रृंगाररसका भी ऋग्वेदमें अवलोकन कीजिये कि ईश्वर कैसा रसीला है—

(प्रथम मण्डल १२३ सूक्त १० वीं ऋचा)

हे कामना करनेहारी कुमारी ! जो तू शरीरसे कन्याके समान वर्तमान व्यवहारोंमें अति तेजी दिखाती हुई, अत्यन्त संग करते हुए विद्वान् पतिको प्राप्त होती और सन्मुख अनेक प्रकार सद्गुणोंसे प्रकाशवान जवानीको प्राप्त हुई मन्द मन्द हंसती हुई छाती आदि अंगोंको प्रसिद्ध करती है, सो तू प्रभात बेलाकी उपमाको प्राप्त होती है ।

(प्रथम मंडल सूक्त १७९ ऋचा ४)

इधरसे वा उधरसे वा कहींसे सब ओरसे प्रसिद्ध वीर्य रोकने वा अव्यक्त शब्द करनेवाले वृषभ (बैल) आदिका काम मुझको प्राप्त होता है अर्थात् उनके सदृश कामदेव उत्पन्न होता है और धीरजसे रहित वा लोप हो जाना झुकि जाना ही प्रतीतिका चिन्ह है जिसका, सो यह स्त्री वीर्यवान, धीरजयुक्त श्वासें लेते हुए अर्थात् शयनादि दशामें निमग्न पुरुषको निरन्तर प्राप्त होती और उससे गमन भी करती है ।

यह नमूना बस इतना हो बहुत है क्योंकि अभी आपको बहुतसे नमूने देखने हैं, किंतु आप यहां इतना तो विचार कीजिये कि ऐसी रंगीली बातोंको ईश्वरने लिखा है ?

अब जरा अग्निकी प्रशंसा सुनिये—

(तीसरा मंडल सूक्त २६ ऋचा २)

जिन्होंने अग्नि उत्तम प्रकार धारण किया उन पुरुषोंको भाग्यशाली जानना चाहिये—

(तीसरा मंडल सूक्त २६ ऋचा ५)

जो मनुष्य मथकर अग्निको उत्पन्न करके कार्योंको सिद्ध करनेकी इच्छा करते हैं वे सम्पूर्ण ऐश्वर्य युक्त होते हैं।

(पञ्चम मंडल सूक्त ३ ऋचा ४)

अग्निको विस्तारते हुए विद्वान् मनुष्य चिल्ला चिल्ला उसका उपदेश दे रहे हैं, वे मृत्युरहित पदवीको प्राप्त होवें—

(प्रथम मण्डल सूक्त १४८ ऋचा १)

विद्वान्‌जन मनुष्य संबन्धिनी प्रजाओंमें सूर्यके समान अद्‌भुत और रूपके लिये विशेषतासे भावना करनेवाले जिस अग्निको सब ओरसे निरन्तर धारण करते हैं, उस अग्निको तुम लोग धारण करो—

(मण्डल ७ सूक्त १५ ऋचा ६)

हे मनुष्यो ! वह अत्यन्त यज्ञकर्ता देने योग्य पदार्थोंको प्राप्त होने वाला पावक अग्नि हमारी इस शुद्धि-क्रियाको और वाणियोंको प्राप्त हो, उसको तुमलोग सेवन करो।

इत्यादि बहुत सी ऋचाओं द्वारा अग्निकी प्रशंसा करके वेदके पत्र रंगे गये हैं। विचार कीजिये कि यह अग्निकी प्रशंसा अग्नि देवताकी स्तुतिमें ऋषियोंने लिखी है ? अथवा ईश्वरके उपदेशका यह नमूना है ?

अब मैं ऋग्वेदके कुछ नमूनोंको और दिखाकर यजुर्वेद आपके सामने लाऊंगा। स्वामीजीने वेदोंका रचयिता ईश्वर बतलाया है। अब आप देखिये कि वह मंत्रोंमें किस प्रकार बोलता है—

(सातवां मंडल सूक्त २६ ऋचा ४)

आप हमारे पिताके समान उत्तम बुद्धिवाले हैं।

(प्रथम मंडल ११४ वां सूक्त ७ वीं ऋचा, पृष्ठ १६७२)

हे सभापति ! हम लोगोंमेंसे बुड्ढे वा पढ़े लिखे मनुष्योंको मत मारो और हमारे बालकको मत मारो, हमारे जवानोंको मत मारो, हमारे गर्भोंको मत मारो, हमारे पिताको मत मारो, माता और स्त्रीको मत मारो और अन्यायकारी दुष्टोंको मारो।

माल्म पड़ता है कि स्वामीजी इन वेदमन्त्रोंका अर्थ सोते सोते कर गये हैं क्योंकि जो ईश्वर विचारा निरंजन निर्विकार है उसके पुत्र, स्त्री कहांसे आये ? और कदाचित् स्वामीजीके ईश्वरके पास महादेवके समान पुत्र, स्त्री भी मान लें तो फिर उसके साथी बुड्ढे, पढ़े लिखे मनुष्य तथा माता-पिता कहांसे आ गये ? जिनकी कि जीवनरक्षा वह सभापतिसे चाहता है। स्वामीजी कृपा करके कह जावें तो ठीक हो, वेद ईश्वरने ही बनाये हैं इस बातका क्या बढ़िया उदाहरण है !

(सप्तम मंडल सूक्त ५५ ऋचा ५-८)

जो मनुष्य जैसे मेरे घरमें मेरी माता सब ओरसे सोवे, पिता सोवे, कुत्ता सोवे, प्रजापति सोवे, सब संबंधी सब ओरसे सोवें, यह उत्तम विद्वान् सोवे वैसे तुम्हारे घरमें भी सोवें।

हे मनुष्यो ! जैसे हम लोग जो अतीव सब प्रकार उत्तम सुखोंकी प्राप्ति करानेवाली घरमें सोती वा जो पलंग पर सोनेवाली उत्तम स्त्री विवाहित तथा जिनका शुद्ध गंध हो उन सबोंको हम लोग उत्तम घरोंमें सुलावें वैसे तुम भी उत्तम घरोंमें सुलाओ।

कहिये ! परमेश्वर सोनेके लिये कैसी अच्छी तयारी बतलाया है ! यहां यह नहीं माल्म पड़ा कि ईश्वरका घर किस दिशामें, कहां बना हुआ है, जिसमें वह अपने माता-पिता, कुटुम्बी तथा चौकसीके लिये कुत्ताको भी सुलाता है। अच्छा होता कि स्वामीजी इन बातोंको भी खुलासा कर जाते। इसी ऋग्वेदमें सोमरस पीने-पिलानेके संबन्धमें सैकड़ों ऋचाएं लिखी हैं। यह सोमरस या तो मदिरा या उससे कुछ तेज अथवा मन्द नशीला रस होता होगा, ऐसे इस सोमरसको पीने पिलानेसे क्या हित सोचा ? सो भी स्वामीजी जानते होंगे। सैकड़ों

ऋचाओंमें युद्धका विवरण आया है, जिसमें कि; "शत्रुओंको यों मार; उनको ऐसे जला, शत्रुओंका धन हमारे पास आ जाय, उनके घर अग्नि और वायु न रहे, उनके पशु हमारे यहां आ जांय।" इत्यादि स्त्रियोंमें आपसी लड़ाईके समय निकलीं हुईं गालियोंके समान बातोंके सिवाय विशेष कोई भी व्यूहरचना, शास्त्र-परिचालन आदि युद्ध नीति नहीं है, उसे भी स्वामीजीके मतानुसार ईश्वर ही कहता है। जिस ईश्वरने सृष्टि रची उसीने युद्ध करके दूसरोंको मारनेके भी उपाय बताये निर्विकार पवित्र ईश्वरके लिये कैसा अच्छा निर्मल आभूषण है! इसी प्रकार कहीं सूर्यकी, कहीं नदीकी, तो कहीं राजाकी, कहीं बादलोंकी प्रशंसा करनेमें बीसों मंत्र ऋग्वेदमें भरे हुए हैं, जिनका नमूना दिखलानेमें भी लाचार हैं क्योंकि अभी अन्य वेदोंके भी बहुतसे नमूने रखने हैं। अतः अब ऋग्वेदको कुछ देरके लिये बंद करके यजुर्वेदके दर्शनार्थ आइये—

प्रथम ही कतिपय असम्बद्ध (बेसिलसिलेदार) वाक्योंवाले मन्त्रोंको देखिये—(यहांसे यजुर्वेदके मन्त्र दिखलाये हैं)

(यजुर्वेद अध्याय २५ मंत्र ७)

हे मनुष्यो! तुम मांगनेसे पुष्टि करनेको गुदेन्द्रियके साथ वर्तमान अन्धे सांपोंको गुदेन्द्रियके साथ, वर्तमान विशेष कुटिल सांपोंको आंतोंसे जलोंको नाभिके नीचेके भागसे, अंडकोषको आंडोंसे घोड़ोंको लिंग और वीर्यसे संतानको पित्तसे भोजनोंको पेटके अङ्गोंको गुदेन्द्रियसे और शक्तियोंको शिखावटोंसे निरन्तर लेओ।

(अध्याय २५ मंत्र ३१)

हे विद्वान्! प्रशस्त वेगवाले उस बलवान घोड़ेका जो उदरबन्धन अर्थात् तंगी और अगाड़ी-पछाड़ी और पैर बांधनेकी रस्सी है वा शिरमें होनेवाली मुंहमें व्याप्त रस्सी मुहेरा आदि अथवा जो उस घोड़ेके मुंहमें घास दूब आदि विशेष तृण उत्तमतासे धरी होवें वह सब तेरी हों और यह उक्त पदार्थ विद्वानोंमें भी हों।

(इसीके आगेका ३२वां मंत्र)

हे मनुष्यो ! जो मक्खी चलते हुए शीघ्र जानेवाले घोड़ेका भोजन करती और कुछ मल रुधिरादि खाती अथवा जो स्वर-वज्रके समान वर्तमान है वा यज्ञ करनेहारेके हाथोंमें जो वस्तु प्राप्त और नखोंसे प्राप्त हैं, वे सब तुम्हारे हों तथा यह सब व्यवहार विद्वानोंमें भी हो।"

ईश्वर लोगोंको इन मन्त्रोंसे क्या उपदेश देता है इसको ईश्वर अथवा स्वामीजी ही समझें। हमारी तुच्छ समझसे ईश्वरने उपर्युक्त ३१ वें मन्त्रमें विद्वानोंको सहीसका काम सीखनेकी प्रेरणा की है। ३२वें मंत्रमें ईश्वरने क्या आशीर्वाद दिया और पहले मंत्रमें उसने कौनसा गूढ़ तत्त्व प्रगट किया है ? यह जरा भी समझमें नहीं आया न जाने-गुदेन्द्रियसे अन्धे कुटिल सांप और अंडकोषोंसे घोड़े कैसे लिये जावें, इस विकट-गवेषणामें डाकूर भी साहस छोड़ जांयगे। ऐसे नमूने भी सैकड़ों हैं परन्तु इस समय आप इतनेपर ही विचार कीजिये।

कुछ असम्भव बातोंके नमूने भी देखिये--

(यजुर्वेद अध्याय २६ मन्त्र २)

हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अपने स्त्री, सेवक आदि और उत्तमयुक्त प्राप्त हुए अन्त्यजके लिये भी, इन उक्त सब मनुष्योंके लिये संसारमें इस प्रगट की हुई सुख देनेवाली चारों वेदरूप वाणीका उपदेश करता हूं वैसे आपलोग भी अच्छे प्रकार करें। जैसे मैं दानवालेके संसर्गी विद्वानोंकी दक्षिणा अर्थात् दान आदिके लिये मनोहर प्यारा होऊं और मेरी यह कामना उत्तमतासे बढ़े तथा मुझे वह परोक्ष सुख प्राप्त हो वैसे आप लोग भी होवें और वह कामना तथा सुख आपको प्राप्त होवे।

सज्जनो ! 'मैं ईश्वर' मेरी, आदि शब्दोंसे ईश्वरने अपनेको बतलाया सो तो ठीक किंतु उस निरंजन ईश्वरके पास स्त्री, नौकर-चाकर कहांसे आ गए जिनको उसने वेदोंका उपदेश दिया ! "मैं मनोहर प्यारा होऊं,

मुझे परोक्ष सुख प्राप्त हों" इन शब्दोंसे ईश्वर अपनी किन स्वाहिशोंको (इच्छाओंको) प्रगट करता है! सोचिये—

१२६७ वां पृष्ठ १२वां अध्याय ५१वां मन्त्र—

हे राजन! तू जो निश्चित बकरा उत्पन्न होता है, वह प्रथम उत्पादकको देखता है, जिससे पवित्र हुए विद्वान् उत्तम सुख और दिव्यगुणोंके उपायको प्राप्त होते हैं और जिससे वृद्धियुक्त प्रसिद्धिको प्राप्त होवें, उससे उत्तम गुणों, उत्तम सुख तथा उससे वृद्धिको प्राप्ति हो।

महाशयो! बकरेमें ऐसे कौनसे विशेष गुण हैं जिससे कि वह विद्वानोंको पवित्र कर देता है? उत्तम गुण, सुख, वृद्धियुक्त प्रसिद्धि बकरा किसप्रकार कर देता है? बकरीसे तो दूध भी मिलता है, बकरेसे तो वह भी नहीं। बकरेके शरीरमें ऐसा कौनसा पदार्थ है, जो गुण, सुख आदिको बढ़ाता है? मांसभक्षियोंके कहने अनुसार क्या बकरेके मांससे यह सब कुछ होता है?

(३६वां अध्याय ९वां मन्त्र)

पृथ्वीके बीच विद्वानोंके यज्ञस्थलमें वेगवान घोड़ेकी लेंड़ी (लीद) से तुझको, पृथिव्यादिके ज्ञानके लिये तुझको, तत्त्वबोधके उत्तम वचनके लिये तुझको, यज्ञसिद्धिके लिये तुझको, यज्ञके उत्तम अवयवकी सिद्धिके लिये तुझको सम्यक् तपाता हूं।

प्यारे दोस्तो! विचार करो कि ईश्वर घोड़ेकी लीदसे पृथिव्यादि, तत्त्वबोधके लिये यज्ञकी सिद्धिके लिये तथा उत्तम वचन आदिके लिये किसे तपा रहा है क्या ईश्वरको जाड़ा लगता है? या अग्नि, वायु आदि ऋषियोंको शर्दी लगती है? अथवा यज्ञ-वेदी कोई घुड़सार है? जिसमें मेवेकी जगह पर घोड़ेकी लीद तपाई जाय? ईश्वरकी क्या स्पष्ट इच्छा है सो स्वामीजीने भी गोलमाल कर दी।

वेदोंको बनानेवाला यदि ईश्वर है तो वह पशुओंका, अन्नोंका खरीदने बेचनेवाला बड़ा भारी व्यापारी है। यह बात नीचेके २-३ मंत्रों से प्रगट होती है—

(यजुर्वेद अध्याय १८ मंत्र २६)

मेरा तीन प्रकारका भेड़ोंवाला और इससे भिन्न सामग्री, मेरी तीन प्रकारकी भेड़ोंवाली स्त्री और इनसे उत्पन्न हुए घृतादि, मेरे खंडितक्रियाओंमें हुए विघ्नोंको पृथक् करनेवाला और इसके सम्बन्धी मेरी उन्हीं क्रियाओंको प्राप्ति करानेहारी गाय आदि और उसकी रक्षा मेरा पांच प्रकारकी भेड़ोंवाला और उसके घृतादि मेरी पांच प्रकारकी भेड़ोंवाली स्त्री और इसके उद्योग आदि, मेरा तीन बछड़ेवाला और उसके मेरा तीन बछड़ेवाली गौ और उसके घृतादि, मेरा चौथे वर्षको प्राप्त बैल आदि और इसको काममें लाना, मेरी चौथे वर्षको प्राप्त गौ और इसकी शिक्षायें सब पदार्थ पशुओंके पालनेके विधानसे समर्थ होवें।

प्यारे पाठको ! ईश्वर क्या भेड़ें, गायें, बछड़े घी आदि चीजोंको बेचकर व्यापार करता है ? क्या उसके पासमें तीन प्रकारकी और पांच प्रकारकी भेड़ोंवाली ऐसी दो स्त्रियां हैं ? इस मंत्रमें कौनसा तत्वज्ञान भरा है ? विचारिये—

(अध्याय १८ मंत्र २७)

मेरी पीठसे भार उठानेहारे हाथी ऊंट आदि और उनके संबंधी मेरी पीठसे भार उठानेहारी घोड़ी ऊंटनी आदि और उनसे उठाये गये पदार्थ मेरे वीर्य-सेचनमें समर्थ वृषभ और वीर्य धारण करनेवाली गौ आदि, मेरी वन्ध्या गौ और वीर्यहीन बैल, मेरा समर्थ बैल और बलवती गौ, मेरी गर्भ गिरानेवाली गौ और सामर्थ्यहीन गौ, मेरा हल और गाड़ी आदि चलानेमें समर्थ बैल और गाड़ीवान आदि मेरी नवीन ब्याही दूध देनेहारी गाय और उसको दोहनेवाला जन, ये सब पशु शिक्षारूप यज्ञ-कर्मसे समर्थ होवें।

इस मंत्रसे यह मालूम होता है कि ईश्वरके पास बोझ ढोनेवाले पशुओंके खरीदने बेचनेकी दुकान है। इसके आगे यह समझमें नहीं

आया कि ईश्वरका वीर्य सेचनमें समर्थ बैल कैसे हुआ ? गाय होती तो भी कुछ समझमें आ जाता।

(अध्याय १८ मंत्र १२)

मेरे चावल और साठीके धान, मेरे जौ अरहर, मेरे उरद मटर, मेरा तिल और नारियल, मेरे मूंग और उसका बनाना, मेरे चने और उनका सिद्ध करना, मेरी कंगुनी और उसका बनाना, मेरे सूक्ष्म चावल और उनका पाक, मेरा समा और मडुआ पटेरा चैना आदि छोटे अन्न मेरा पसाईके चावल जो कि विना बोए उत्पन्न होते हैं और इनका पाक, मेरे गेहूं और उनका पकाना, मेरी मसूर और इनका संबन्धी अन्य अन्न ये सब अन्न सब अन्नोंके दाता परमेश्वरसे समर्थ हों।

मित्रवरो ! प्रथम तो यह देखिये कि इस मंत्रमें कौनसी विद्या या उपदेशजनक बहुमूल्य बात रक्खी है ? जिससे कि इस मन्त्रका बनानेवाला कोई ऋषि न माना जाकर ईश्वर ही माना जाय। दूसरे यदि ईश्वर इस मन्त्रका रचयिता है तो मानना पड़ेगा कि कोई एक दूसरा भी अन्नदाता ईश्वर है। क्योंकि "ये सब अन्न अन्नोंके दाता परमेश्वरसे समर्थ हों" इस वाक्यका मतलब हो ऐसा निकलता है।

प्रिय सज्जनो ! आपके सामने वेदोंके कितने मंत्रोंको रक्खा जाय, आप वेदोंको स्वयं पढ़िये, स्वामीजी उनका अर्थ हिंदी भाषामें भी कर गये हैं। उसे पढ़कर आपलोग स्वामीजीके पलटे हुए भी वेद-मंत्रोंके अर्थसे वेदोंकी सारशून्यताका पता लगा सकते हैं। कोई भी बात उसमें प्रकरण बद्ध नहीं कही गई है। मदरसोंमें जैसे छोटे २ लड़के इधर-उधरकी इबारत लिखा करते हैं, वेदोंको पढ़कर आप स्वयं देखेंगे, उसकी लेखनशैली वैसी ही है। जिस मांस भक्षणको पशुहिंसाको धार्मिक समाज निन्दित समझता है उसका विधान वेदोंमें बड़े विस्तार के साथ है। इस बातको स्वामीजीने यद्यपि बहुत छिपाना चाहा है किन्तु नहीं छिप सका है। गोवध, अजावध आदि यज्ञके लिये जो

पहले वैदिक जमानेमें होते थे, उन बातोंके प्रगट करनेवाले मंत्रोंको स्वामीजी भी एकदम नहीं पलट सके हैं। देखिये—

यजुर्वेद २८ अध्याय ३३ वां मंत्र।

वन्ध्या तथा गर्भ गिरानेहारी गौ और अभीष्ट वस्तुको धारण करता हुआ यज्ञ करे।

२८ अध्याय २३ वां मंत्र।

होमके लिए पाकविशेषको पकाता और रोगोंको नष्ट करनेहारी बकरीको बांधता हुआ यज्ञ करनेमें कुशल, तेजस्वी विद्वान्‌को स्वीकार करे।

सं० १९३३ में एशियाटिक प्रेस बम्बईसे प्रकाशित संस्कारविधिके पृष्ठ ११ में स्वामीजीने बृहदारण्यक उपनिषद्‌के 'अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पंडितः' इत्यादि मंत्रका अर्थ ऐसा किया है—

जो चाहे कि मेरा पुत्र पंडित सदसद्विवेकी, शत्रुओंको जीतनेवाला, स्वयं जीतनेमें न आनेवाला, युद्धमें गमन, हर्ष और निर्भयता करनेवाला, शिक्षित वाणीका बोलनेवाला, सब वेद-वेदांग विद्याका पढ़ने और पढ़ाने तथा सर्वायुका भोगनेवाला पुत्र होय, वह मांसयुक्त भातको पकाके पूर्वोक्त घृतयुक्त खांय तो वैसे पुत्र होनेका संभव है।

इसीका ४२ वां पृष्ठ देखिये—

(अजमन्नाद्यकामः ॥ २ ॥ तैत्तरं ब्रह्मवर्चस कामः ॥ ३ ॥

अर्थात्-अजाके मांसका भोजन अन्नादिकी इच्छा रखने वाला तथा विद्या-कामनाके लिये तित्तिरका मांस भोजन करावे।

इसके सिवाय सन् १८७५ का छपा हुआ सत्यार्थप्रकाश भी देखिये- उसमें "मांस पिंडका देना, मांससे हवन करना, बांझ गायका हवन करना" आदि खुले रूपसे लिखा हुआ है। जब कि स्वामीजीने स्वयं ऐसा लिखा है। तब कौन ऐसा वेदानुयायी वीर है जो कि वेदोंमें हिंसा-विधानके अस्तित्वको मिटा सके। इसतरह वेद मांसभक्षण या गोकुसी

आदिका उपदेश देते हुए भी ईश्वरकृत और प्रमाणिक बने रहे, आश्चर्य है !!

सत्यार्थप्रकाशके ३०२ वें पृष्ठको पढ़ जाइये। प्राचीन समयमें ऐसी वैदिक-यज्ञके होनेका वृत्तान्त आपको मिल जायगा।

न्यायप्रिय मित्रो! क्या ऐसी बीभत्स, अमानुषिक बातोंका मंत्र-रूपसे वेदोंमें लिखनेवाला ईश्वर हो सकता है ? आप लोगोंके लिये दो ही रास्ते खुले हैं कि या तो वेदोंका बनानेवाला ऋषियों को मानो और वे भी ऐसे असभ्य, दयाहीन, जिनके हृदयका चित्र उपर्युक्त वेदवाक्य खींच रहे हैं। अथवा वेदोंको ईश्वर-प्रणीत मानकर ईश्वरको मलिनात्मा, दयाहीन, अल्पज्ञ मान लीजिये। उसके दयालुता, सर्वज्ञता आदि गुणोंको एक ओर छोड़ दीजिये, कारणभूत उपरिलिखित वेदमन्त्र मौजूद हैं। खूब विचारकर आप स्वयं इन्साफ कर लीजिये।

अब अन्तमें हम कुछ कट्टरवेदानुयायी विद्वानोंके वेदोंके विषयमें मत प्रगट करते हैं—

सरस्वती पत्रिका भाग ६ संख्या ६में श्री विनायक विश्वनाथ 'वेद-विख्यात' के लेखका कुछ भाग—

"वेदपाठसे हां यह मालूम होता कि है वैदिक ऋषि ही वेद-प्रणेता हैं। वैदिकसूक्तोंमें ही प्रणेता-ऋषियोंके नाम विद्यमान हैं, इन्हीं ऋषियोंने अनेक प्रकारके छन्दोंमें स्तोत्र आदि रच कर देवताओंकी स्तुति और प्रार्थना की है । यह सब उन्होंने अपने अभीष्ट साधनके लिये किया था।"

ऋग्वेदका कोई ऋषि कुएमें गिर जाने पर उसीके भीतर पड़े २ स्वर्ग और पृथिवी आदिकी स्तुति कर रहा है ; कोई इन्द्रसे कह रहा है आप हमारे शत्रुओंका संहार कीजिये। कोई सवितासे प्रार्थना कर रहा है, कि हमारी बुद्धिको बढ़ाइये ; कोई बहुत गायें मांग रहा है कोई बहुतसे पुत्र, कोई पेड़, सर्प, अरण्यानी, हल, और दुंदुभि पर मन्त्ररचना कर रहा है, कोई नदियोंको भला बुरा कह रहा है, कि ये हमें आगे बढ़नेमें बाधा डालती हैं, कहीं मांसका उल्लेख है, कहीं सुराका (शराब पीनेका) है, कहीं द्यूतका (जुएका) है। ये सब बातें वेदके ईश्वरप्रणीत न होनेकी सूचक हैं । यजुर्वेदका भी प्रायः यही हाल है। सामवेदके मंत्र तो कुछेक छोड़ कर शेष सब ऋग्वेदसे चुने गये हैं।

रहा अथर्ववेद सो तो मारण, मोहन उच्चाटन और वशीकरण आदि मंत्रोंसे परिपूर्ण है । स्त्रियोंको वश करने और जुवेमें जीतने तकके मंत्र अथर्ववेदमें हैं। अतएव इस विषयमें विशेष वक्तव्यकी जरूरत नहीं ; न ईश्वर जुवा खेलता है, न वह स्त्रैण ही है और न वह ऐसी बातें करनेको औरोंसे प्रेरणा ही करता है, ये सब मनुष्यों ही के काम हैं ; उन्हींने वेदोंकी रचना की है।

व्यासजीके पहले वैदिक-स्त्रोतसमूह एक जगह एकत्र न था, वह कितने ही भिन्न भिन्न अंशोंमें प्राप्य था क्योंकि सारे ही स्त्रोत्रसमूह-की रचना एक समयमें नहीं हुई। कुछ अंश कभी बना है, कुछ कभी, किसीकी रचना किसी ऋषिने की है, किसीकी किसीने। इन सब

बिखरे हुये मंत्रोंको कृष्णद्वैपायनने एक प्रणालीमें बद्ध कर दिया, तभी से वेदोंके नामके आगे 'संहिता' शब्द प्रयुक्त होने लगा।

वैदिक-समयमें पशुहिंसा बहुत होती थी, यज्ञोंमें पशु बहुत मारे जाते थे, इनका मांस भी खाया जाता था। उस समयमें कई पशुओं-का मांस खाद्य समझा जाता था। इत्यादि—

प्रिय आर्य बन्धुओ! उपर्युक्त लेखका लिखनेवाला मनुष्य भी कट्टरवेदानुयायी है किन्तु साथ ही विचारशील; निष्पक्ष भी है, अन्ध-विश्वासी नहीं है। क्या मैं यह आशा कर सकता हूं कि आप भी इस विषय पर पूर्ण विचार करेंगे?

काशीके प्रसिद्ध वेदानुयायी विद्वान् महामहोपाध्याय पं० राममिश्र जी अपने व्याख्यानमें कहते हैं कि "वेदोंके यदि पांच भाग कल्पना किये जांय तो प्रायः सवा तीन भागोंमें हिंसाकी कथा आपको मिलेगी।"

इसी प्रकार अन्य अनेक विद्वानोंने वेदानुयायी होते हुए भी वेदोंके आधारसे पशुहिंसा, मांसभक्षण मदिरापान आदि कार्य वेदोंकी आज्ञा बतलाई है। जब कि वेदोंके अन्दर इस प्रकार असभ्य, अनुचित निर्दयतापूर्ण बातें भरी हैं। तब वेद किस आधारसे ईश्वर प्रणीत हो सकते हैं? क्या ऐसी भद्दी बातोंके संगठित समूहरूप वेदों-को धार्मिक-ग्रंथ समझ कर सब शिक्षाओंका भंडार मान लेना अन्ध-श्रद्धा नहीं है? क्या ऐसे लोकनिंदित बातोंसे भरे हुए वेदोंको न मानने के कारण जैनधर्म विवेकी और परीक्षाप्रधानी नहीं है? भाइयो! ख्याल करो उस जमानेको जब कि यज्ञोंमें वेदमन्त्रोंको बोलते हुए सैकड़ों हजारों गाय, बकरी, घोड़ा यहां तक कि मनुष्य भी मारकर होमे जाते थे, खूनकी नालियां बहती थीं, नदियोंका पानी कोसों तक लाल हो जाता था, उस समय इस राक्षसी-वैदिक-यज्ञोंसे निरपराध असंख्य पशुओंका अमूल्य जीवनधन सुरक्षित करनेके लिये इस जैन-धर्मने बीड़ा उठाया था और अपनी सच्ची न्याय-नीतिकी हुंकारसे

अपने उद्देश्यको सफल भी कर दिखाया, जिससे कि वह राक्षसी-वैदिक जमाना सदाके लिये सो गया और वेदानुयायियोंने भी जैन-धर्मके अहिंसापरमोधर्मः का सिद्धान्तको अपनाया। इस ऐतिहासिक बातको लोकमान्य तिलकने स्वयं अपने व्याख्यानमें स्वीकार किया है। अतः महाशयो! न केवल वेदानुयायियोंको किंतु समस्त भारत-वर्षको जैनधर्मका अहसानबन्द (आभारी) होना चाहिये कि उसने इस पवित्र-भूमिसे राक्षसी-लीला हटाई। आज भी वेदोंका पूर्ण-विश्वासी कोई भी मनुष्य वेदोंकी साक्षी देकर छाती ठोंककर यह नहीं कह सकता कि गोवध करना अनुचित तथा धर्मविरुद्ध है क्योंकि हम इनके विरुद्ध आज्ञावाले वेदमन्त्रोंको ऊपर दिखला चुके हैं। जैन-धर्मने जबसे इसके विरुद्ध बीड़ा उठाया है, तभीसे पूर्ण तौरसे अहिंसा का प्रचार किया है।

इस संपूर्ण लेखका सारांश यह है कि वेद अनेक ऋषियोंके भिन्न भिन्न समयमें बनाये गये श्लोकोंका संग्रह है। उसमें अग्निकी प्रशंसा, नदीकी निन्दा, सोमरस (मदिरा) पान, मांस भक्षण, यज्ञार्थ पशुवध आदि बातोंके सिवा और कोई महत्वशाली बातें नहीं हैं। लिपि-लेखनका समय संभवतः रामचन्द्रजीके जमानेसे चला है और वेदोंके मन्त्ररचयिता ऋषि भी इनसे प्राचीन नहीं हैं। अतः वेदोंकी उत्पत्ति अधिकसे अधिक प्राचीन यहीं तक हो सकती है। जैनधर्म उससे पहले भी भूमण्डलपर विद्यमान था, इसको हमने सप्रमाण जैनधर्मके उदय-कालवाले प्रकरणमें बतलाया है। अतः जैनधर्म वैदिकधर्मसे प्राचीन है, अर्वाचीन नहीं। वेदोंकी निन्दा प्रथम ही हजारों शाखाएँ बनाकर स्वयं वेदानुयायियोंने ही की है। कोई किसी वेदको अच्छा कोई किसी को अच्छा, कोई किसीको बुरा और कोई किसी वेदको बुरा कहता है। वर्तमानमें स्वामीजीके भाष्यकी कोई तारीफ करता है, कोई सायणाचार्य, महीधर आदिके भाष्यको ठीक मानता है, कोई ब्राह्मण आदिको प्रामाणिक कहता है, कोई अप्रामाणिक, कोई इसे अहिंसामें

घसीटना है, तो कोई उसे हिंसाका पोषक कहता है, स्वामीजी दोनों बातें कहते हैं। फिर यदि जैनधर्म उसको अप्रामाणिक कहकर ऐसी झूठी झंझटोंसे बचता है, तो उसका यह कार्य क्योंकर प्रशंसनीय नहीं? और वही अकेला वेदनिंदक क्यों हुआ? तथा वेदानुयायियोंमें कौन किस आधारसे सत्य समझा जाय?

महाशयो! आप बुद्धिमान, विचारशाली हैं, साथ ही अन्ध विश्वासी भी नहीं हैं, फिर मैं आपसे क्यों न विनीत निवेदन करूं कि आप कुछ देरके लिये मेरा तथा स्वामीजीका वचन विश्वास छोड़कर स्वयं वेदोंको देखिये, कमसे कम आप हिंदी भाषाका अर्थ तो समझ ही जांयगे, बस! सारी बातोंका आप स्वयं निर्णय कर लेंगे। हाथकंगन को आरसीकी क्या जरूरत। बस! यह विषय इतना ही बहुत है। प्रेम के साथ पढ़कर विचार कीजिये, मैंने इस लेख लिखनेके पहले आपके विद्वान् विद्यालंकारोंसे आवश्यक विचार कर यह विषय समझ लिया था। अस्तु—

क्या जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा है ?

६

सत्य प्रियमित्रो ! जैनधर्मके विषयमें स्वामीजीने सत्यार्थप्रकाशमें अन्य भूलोंके सिवाय अपनी एक यह बहुत मोटी भूल लिख मारी है, कि जैनधर्म, बौद्धधर्मकी मूलमें भिन्नता नहीं है अर्थात् एक ही है, वे सत्यार्थप्रकाशके बारहवें समुल्लासके ४४१वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि "बौद्ध कहनेसे हमारा आशय उस मतसे है, जो महावीरके गणधर गौतमस्वामीके समयसे शंकरस्वामीके समय तक वेद-विरुद्ध भारतवर्षमें फैला रहा और जिसको अशोक और सम्प्रति महाराजने माना, उससे जैन बाहर किसी तरह नहीं निकल सकते। 'जिन' जिससे 'जैन' निकला और 'बुद्ध' जिससे 'बौद्ध' निकला, दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। कोषमें दोनोंका अर्थ एक ही लिखा है और गौतमको दोनों मानते हैं" स्वामीजीके इस लेखसे पता चलता है कि स्वामीजीके सामने जैन-ग्रन्थोंके समान अजैन दार्शनिक-ग्रन्थ भी प्रायः देखनेमें नहीं आये। अन्यथा उन्हें अपनी ऐसी मोटी भूल प्रगट करनेका अवसर नहीं मिलता। स्वामीजीको इस भूलमें, अमरकोपके 'सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः' इत्यादि तीन श्लोकोंने सहायता पहुंचा कर स्वामीजीको बहुत धोखा दिया। अस्तु, जैनधर्म और बौद्धधर्म सर्वथा भिन्न भिन्न हैं और जैनधर्म बौद्धधर्मसे बहुत प्राचीन धर्म है। इस बातको हम कई प्रकारसे आपको बतलाते हैं, आप उस पर विचार करके यथार्थ निर्णय करें—

प्यारे बन्धुओ ! प्रथम तो जैनधर्मके सिद्धांत बौद्धधर्मके सिद्धान्तोंसे सर्वथा भिन्न हैं। जैनधर्मके पूज्यदेव, गुरु और धार्मिक-नियम, तत्व आदि बौद्धधर्मके देव आदिसे किसी भी प्रकार नहीं मिलते हैं। देखिये, जैनधर्मके उपदेष्टा पूज्यदेव अरहंत नग्न, वीतराग होते हैं और बौद्धधर्मके संस्थापक बुद्ध यज्ञोपवीत और वस्त्र पहने सराग हैं। इसकी साक्षी अरहंतदेवकी मूर्ति और बुद्धदेवकी प्रतिमासे मिलती है,

इसी विषयमें वराहमिहिर आचार्यने अपनी वृहत्संहितामें यों लिखा है कि—

> आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशांतमूर्तिश्च ।
> दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः ॥ ४५ ॥
>
> (अध्याय ५८)

अर्थात्—अरहंतदेवकी मूर्ति घुटनों तक लम्बी भुजाओंवाली, छाती पर श्रीवत्सके चिन्हयुक्त, शांत, नग्न, युवावस्थावाली, सुन्दर बनानी चाहिये ।

> पद्माङ्कितचरणः प्रसन्नमूर्तिः सुनीचकेशश्च ।
> पद्मासनोपविष्टः पितेव जगतो भवेद् बुद्धः ॥ ४४ ॥
>
> (अध्याय ५८ ।)

यानी—जिसके चरणोंमें कमलका चिन्ह और प्रसन्नमूर्ति हो, सुंदर केश नीचे लटके हुए हों, पद्मासनसे बैठी हुई संसारके पिता-समान दीखे वह बुद्धकी मूर्ति है ।

इसी प्रकार जैन साधुओंमें और बौद्धसाधुओंमें भी बहुत अंतर है जब कि जैन साधु अपनी असली ऊंची दशामें समस्त परिग्रह रहित नग्न दिगम्बर होते हैं, तब बौद्ध साधु अखीर दशा तक लाल कपड़ा पहने हुए, भोजन लानेके पात्र आदि पदार्थोंको लिये हुए होते हैं, उन दोनोंकी तपस्यामें जमीन आसमानका अन्तर है। इसी तरह धार्मिक सिद्धांतोंसे भी जैनधर्म, बौद्धधर्म पूर्णतया भिन्न भिन्न हैं। बौद्धधर्म जब कि सर्वथा क्षणिकवादको पकड़ बैठा है तब जैनधर्म कथंचित् क्षणिक और कथंचित् नित्यका पाठ सिखलाता है। बौद्ध-धर्म प्रथम ही बाह्य पदार्थोंको प्रत्यक्ष सिद्ध फिर अनुमान सिद्ध मानता हुआ, पश्चात् योगाचार नामक बौद्ध उन पदार्थोंको शून्य और माध्यमिक सारे संसारको ही शून्य बतलाता है, जैनधर्म जड़ तथा चेतन पदार्थोंको प्रमाण-सिद्ध मानता है। बौद्धोंने दुःख, आयतन, समुदाय और मार्ग ये चार तत्त्व माने हैं किंतु जैनधर्मने जीव, अजीव,

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व माने हैं; जैनधर्म आत्माकी कर्मरहित शुद्धदशाको मोक्ष मानता है, बौद्धधर्म आत्माके अस्तित्व मिट जानेको मोक्ष होना बतलाता है। इत्यादि, अनेक प्रकार दोनों धर्मोंके सिद्धांतोंमें आर्यसमाज और मुसलमान मतके सिद्धांतोंके समान बहुत भारी अन्तर है।

दूसरे—जैनधर्म बहुत प्राचीनधर्म है जिसके कि मूलसंस्थापक भगवान ऋषभदेव पहले तीर्थङ्कर थे, जिनका कि नामोल्लेख वेदोंमें तथा भागवत आदिमें आठवां अवतार आदि माननेके रूपसे पाया जाता है, जो कि चौवीसवें तीर्थङ्कर भगवान महावीरस्वामीसे लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे, उसके पीछे भगवान अजितनाथजी आदि पार्श्वनाथजी और महावीरस्वामी तक तीर्थङ्करोंने उसी जैनधर्मका उद्धार किया है, जिनमेंसे सुपार्श्वनाथजी, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थङ्करोंके लिये नमस्कार वेदोंके अनेक मन्त्रोंमें अभीतक वर्तमान है, अतः जैनधर्म, वैदिकधर्मसे भी प्राचीन सिद्ध होता है। तब बौद्धधर्म केवल महात्मा बुद्ध जो कि महावीरस्वामी यानी २४वें तीर्थंकर, जिनको कि इस समय २४५० वर्ष बीत चुके हैं, के समयमें उत्पन्न हुए थे। उन्हीं बुद्धने बौद्धधर्मकी नीव डाली है। अतः बौद्धधर्म कुल ढाई हजार वर्षके पेटेमें अपनी प्राचीनता दिखला सकता है किंतु जैनधर्मके उदय कालका पता लगाना इतिहासकी शक्तिसे बाहरकी बात है। अतः प्राचीनता-अर्वाचीनताकी अपेक्षा भी बुद्धधर्म और जैनधर्ममें भारी अंतर है।

अमरकोषके २-३ श्लोक पढ़कर स्वामीजीने जैनधर्म और बौद्धधर्मको एक धर्मरूप समझनेमें भारी धोखा खाया है। अतः कोषोंके प्रमाणसे भी इसका फैसला देखिये—

प्रथम तो अमरकोषके ही द्वितीयकांड ब्रह्मवर्गके श्लोक ६ठे ७वेंके बीचमें क्षेपक श्लोकमें लिखा है कि—

वैशेषिके स्यादौलूक्यः सौगतः शून्यवादिनि ।
नैयायिकस्त्वक्षपादः स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः ॥

अर्थात्—औलूक्यदर्शन वैशेषिक-मत है, सौगत यानी बौद्ध शून्यवादी होते हैं, नैयायिकका दूसरा नाम अक्षपाद है और स्याद्वादी आर्हत यानी आर्हतको माननेवाला जैनदर्शन है ।

स्वामीजी यदि पूरा अमरकोष देख जाते तो उन्हें बौद्धधर्म और जैनधर्मको एक समझनेकी भूल कदापि नहीं करनी पड़ती । 'जिन' शब्दका अर्थ 'बुद्ध' अमरकोषमें देखकर जो स्वामीजीसे गलती हुई है, उसके परिशोधनके लिये हम मेदिनी कोषका प्रमाण देते हैं । देखिये ! मेदिनीकोषमें स्पष्ट लिखा है—

जिनोऽर्हन्ति च बुद्धे च पुंसि स्यात्त्रिषु जित्वरे ।

यानी—पुल्लिंगमें 'जिन' शब्द अर्हत यानी जैनधर्म चलानेवाले और 'बुद्ध' अर्थात् बौद्धमतके संस्थापकके लिये आता है तथा जीतनेवाले के लिये जिन शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होता है ।

इस प्रकार दोनों कोष स्वामीजीके लिखनेको असत्य ठहराते हैं । इसके सिवाय व्याकरणानुसार विचारनेपर भी स्वामीजीका जिन शब्दसे जैन और बौद्धधर्मको एक माननेका भ्रम गलत सिद्ध होता है क्योंकि सिद्धान्तकौमुदीके रचयिता भट्टोजिदीक्षित 'जिन' शब्दका अर्थ "जिनोऽर्हन्" अर्हत ही करते हैं, बुद्ध नहीं ।

अजैन दार्शनिकोंने जैनधर्म और बौद्धधर्मको सर्वत्र अलग अलग लिखा है । व्यास-विरचित वेदान्त-सूत्रके द्वितीय अध्यायमें १८वें से ३२ वें तकके सूत्रोंमें बौद्धधर्मका खंडन किया गया है और इसके आगे "नैकस्मिन्नसंभवात्, एवं चात्माऽकात्स्न्र्यं, न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः तथा अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः" इन चार सूत्रोंमें जैनधर्मका प्रतिवाद किया है । सर्वदर्शन-संग्रह-ग्रन्थमें माधवाचार्यने १६ दर्शनोंमें जैनदर्शन और बौद्धदर्शनको भिन्न भिन्न लिखा है । वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और वैभाषिक बौद्धोंके

इन चार भेदोंमें जैनदर्शनका दर्शन तक नहीं है। वराहमिहिराचार्यने अपनी बृहत्संहितामें ६१ वें अध्यायमें लिखा है कि—

शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नाञ्जिनानां विदुः ॥१९॥

अर्थात्—सर्वहितैषी शान्तमना बुद्धके उपासक शाक्य यानी बौद्ध होते हैं। जिन देवके उपासक नग्न यानी जैन होते हैं, इत्यादि। अन्य भी दार्शनिक विद्वानोंने जैनधर्म और बौद्धधर्मका भिन्न भिन्न ही उल्लेख किया है। तदनुसार भी स्वामीजीका लिखना भ्रान्त ठहरता है। महाभारतके अश्वमेधपर्वकी अनुगीतामें अनेक मतोंका वृत्तान्त आया है, उसमें भी जैनधर्म और बौद्धधर्मको अलग अलग बतलाया है। नीलकंठाचार्य भी इस पर अपनी सम्मति इस प्रकार देते हैं कि "कुछ लोगोंका सिद्धान्त है कि शरीर नष्ट हो जानेके बाद भी जीव रहता है, इसके विपरीत चार्वाक लोग मानते हैं। प्रत्येक वस्तुको संदेहरूप (कथंचित् रूप) स्याद्वादी (जैन) बतलाते हैं। तीर्थङ्करोंका कहना है कि पदार्थ सदा स्थिर नहीं रहता है। मीमांसक पदार्थोंको नित्य कहते हैं, शून्यवादियोंका सिद्धान्त है कि सब शून्य है, कोई पदार्थ नहीं है और संयोक्ता या बौद्ध लोग वस्तुको क्षणिक मानते हैं।" इस प्रकार इनके कथनानुसार भी खुलासा सिद्ध है कि जैनधर्म बौद्धधर्मसे पृथक प्राचीन स्वतंत्रधर्म है।

श्रीदेवनन्दि आचार्य दर्शनसार नामक ग्रन्थमें (श्लोक नं० ६-७ में लिखते हैं कि—

अर्थात्—श्रीपार्श्वनाथ नामक २३ वें तीर्थङ्करके तीर्थ समयमें सरयूनदीके किनारे पलाशनगरमें पिहितास्रव मुनिका शिष्य एक बुद्ध-कीर्ति नामका था सो एक समय सरयूमें बाढ़ आनेपर सरयूके किनारे पर मरी हुई मछलीको देखकर दीक्षासे भ्रष्ट होकर उसे जीव रहित पवित्र समझ खा गया और फिर उसने रक्ताम्बर यानी लाल कपड़े पहन कर नवीन क्षणिकवादरूप एकान्तमत (बौद्धमत) चलाया।

इससे भी सिद्ध होता है कि बौद्धधर्म जैनधर्मसे सर्वथा भिन्न

धर्म है, जो कि जैनोंके २४वें तीर्थङ्कर महावीर स्वामीके समयमें बुद्ध-देवने चलाया है।

अब इसी विषयमें प्रसिद्ध प्रसिद्ध २-४ इतिहासवेत्ता विद्वानोंके मत भी देख लीजिये—प्रोफेसर डा० हर्मन जेकोवी एम० ए० पी० एच० डी० बोन जर्मनी लिखते हैं कि "जैनधर्म सर्वथा स्वतंत्र धर्म है, मेरा विश्वास है कि वह किसीका अनुकरण नहीं है और इसीलिये प्राचीन भारतवर्षके तत्वज्ञानका और धर्म-पद्धतिका अध्ययन करनेवालोंके लिये वह बड़े महत्व की चीज है।"

बा० अम्बुजाक्ष सरकार एम० ए० बी० एल० लिखते हैं कि "यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्मकी शाखा नहीं है। महावीरस्वामी जैनधर्मके स्थापक नहीं हैं, उन्होंने केवल प्राचीन धर्मका प्रचार किया है।"

स्वामीजीने जैनधर्म, बौद्धधर्मको एक ठहरानेके लिये राजा शिव-प्रसादजीके लेखका प्रमाण दिया है। अब हम इस विषयमें सतारेहिन्द-जीका अभिमत प्रगट करते हैं।

राजा शिवप्रसादजी सतारेहिन्द अपने एक पत्रमें लिखते हैं कि "जैन और बौद्ध एक नहीं हैं, सनातनसे भिन्न भिन्न चले आये हैं, जर्मन देशके एक बड़े विद्वान्ने इसके प्रमाणमें एक ग्रंथ छापा है, इतिहास-तिमिरनाशकका आशय स्वामीजीको समझमें नहीं आया।"

इस तरह प्रत्येक मार्गसे विचार कर देखिये, जैनधर्म और बौद्धधर्म भिन्न भिन्न ही सिद्ध होते हैं। क्या अब भी आप सत्यार्थप्रकाशकी यह भूल स्वीकार न करेंगे?

जैनधर्मका उदयकाल सबसे पुरातन है।

(१०)

विचारशील महानुभावो ! अन्य विषयोंमें प्रवेश करनेके पहले हम-को यह अच्छा और आवश्यक दीखता है कि जैनधर्मके प्रादुर्भाव होनेका समय निश्चित कर लें, क्योंकि इस बातका निर्णय किये बिना आगे अनेक अड़चनें खड़ी दृष्टिगोचर होंगी तथा इतिहासज्ञोंने इस विषयमें अपना कोई एक निश्चित मत भी नहीं दिया है। किसी विद्वान्के मतमें जैनधर्मने बौद्धधर्मके उत्पत्ति-समयमें भगवान महावीरस्वामीसे जन्म पाया है, किसी विद्वान्के मतमें बौद्धधर्मसे पूर्व, किंतु वैदिक धर्मके पीछे जैनधर्मका उदय हुआ है, तो अनेक निष्पक्ष वेदानुयायी, इतिहासवेत्ता इस विषयमें अपना यह मत प्रगट करते हैं कि जैनधर्मकी उत्पत्तिका समय वैदिकधर्मसे भी प्रथम है इत्यादि रीतिसे इतिहास इसे अनिश्चय के झूलेमें झुलाता है। एवं स्वामीजी सत्यार्थप्रकाशके १२वें समुल्लास में ३०२ पृष्ठपर लिखते हैं कि "जब इन पोपोंका ऐसा अनाचार देखा और दूसरा मरेका तर्पण-श्राद्धादि करनेको देख कर एक महाभयंकर वेदादि शास्त्रोंका निन्दक बौद्ध वा जैनमत प्रचलित हुआ।" यानी स्वामीजीकी रायमें जैनधर्म वैदिकधर्मसे पीछे उत्पन्न हुआ है। अतः इस विषयका निश्चय करनेके लिये उतरना आवश्यक है।

तदनुसार—अजैनदर्शनोंमें प्रथम ही जब बौद्धदर्शनका विचार किया जाता है, तब अनेक प्रमाणोंसे उसका उत्पत्तिसमय ढाई हजार वर्ष पहलेका ठहरता है। क्योंकि इस दर्शनके जन्मदाता महात्मा बुद्ध इतने वर्ष पहले ही महावीर स्वामीके समकालीन हुए हैं, उससे पहले बौद्धधर्म इस संसारमें नहीं था। वेदान्तदर्शन पर दृष्टिपात करते समय मालूम होता है कि इस दर्शनके मूलविधाता महर्षि व्यास। महात्मा बुद्धसे पीछे हुए हैं क्योंकि उन्होंने वेदान्तदर्शनमें बौद्धधर्मका खण्डन किया है। व्यासजी सम्राट चन्द्रगुप्तसे भी पीछे हुए हैं, क्योंकि

उन्होंने पतंजलीकृत योगदर्शनकी व्याख्या लिखी है और पतंजलीने पाणिनि-व्याकरणके दूसरे अध्यायमें चौथे पादके २३वें सूत्रकी टीका करते हुए ऐसा कहा है, कि राजाको चन्द्रगुप्तके समान सभा नियुक्त करना चाहिये। अतः सिद्ध होता है कि पतंजली सम्राट चन्द्रगुप्तके समकालीन और व्यास ऋषि उनके पीछे या समकालीन हुए हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनोंके उत्पन्न होनेका समय जब देखते हैं तो पता चलता है, कि इनके प्रणेता ऋषि गौतम, कणाद, कपिल आदि प्रायः व्यास, पतंजलीके समकालीन हुए हैं। क्योंकि इन्होंने अपने अपने दर्शनोंमें परस्पर एक दूसरेकी निन्दा और खण्डन लिखा है, जिससे कि भली भांति सुगमतासे सिद्ध होता है कि षट् दर्शनोंका जन्मकाल ढाई हजार वर्षके पेटेमें ही है। इनके सिवाय अन्य जो भारतीय और विदेशीय मत-मतान्तर हैं, वे भी प्रायः दो या ढाई हजार वर्षसे पुराने समयके नहीं हैं। अब एक वैदिकधर्म ही और जैनधर्म बौद्धधर्मसे पूर्वसमयवर्ती रह जाता है। यद्यपि वैदिकधर्म कोई खास धर्म नहीं है क्योंकि जो वेदानुयायी हैं उनके भिन्न भिन्न न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि छह दर्शन और उनके भी कई विशेष भेद प्रचलित हैं, जिनका कि परस्परमें वहुत मतभेद है, क्योंकि उनमें से कोई ईश्वरवादी, कोई अनीश्वरवादी, कोई प्रकृतिवादी, कोई ब्रह्मवादी आदि हैं। यदि इनका कुछ समयके लिये परस्परमें वाक्युद्ध हो जावे तो वहुत शीघ्र एक दूसरेको ठंडा कर देवें, ऐसा होनेपर भी मजा यह है, कि वे सभी वेदानुयायी हैं। अस्तु, किन्तु फिर भी हम वेदोंकी खातिर कुछ समयके लिये फर्जी वैदिकधर्म मानकर उसकी प्राचीनता टटोलेंगे और उसकी जैनधर्मके उदयकालके साथ तुलना करेंगे।

सनातनधर्मावलंबियोंके गणेशपुराण, शिवपुराण आदि १८ पुराणोंके बनानेवाले व्यास, ऋषि महाभारतके समयवर्ती बतलाये जाते हैं क्योंकि पराशर ऋषिके ये पुत्र थे और सत्यवती (मत्स्यगन्धा) नामक

मल्लाहकी पुत्रीके उदरसे उत्पन्न हुए थे, जिसको कि पराशरऋषिने प्रसन्न होकर अनन्तयौवना कर दिया था और फिर जिसका कि महाराज शान्तनुसे पाणिग्रहण हुआ था। इस विषयमें यद्यपि कोई प्रामाणिक साक्षी नहीं है, किंतु फिर भी इसे यदि सत्य मान लिया जाय तो पुराणोंका निर्माण समय वेदोंसे पीछे किन्तु बहुत प्राचीन ठहरता है। देखना चाहिये। उस समय जैनधर्मका सद्भाव था या नहीं?

भगवान् श्रीऋषभनाथजी जैनधर्मके जन्मदाता प्रथम तीर्थंकर हुए हैं। उनके पिताका नाम नाभिराजा, माताका नाम मरुदेवी और बड़े पुत्रका नाम भरत था। उनके विषयमें पुराणोंमें इस प्रकार उल्लेख है—शिवपुराणमें—

कैलासे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥५६॥

अर्थात्—केवलज्ञानद्वारा सर्वव्यापी कल्याणस्वरूप सर्वज्ञाता यह ऋषभनाथ जिनेश्वर मनोहर कैलास पर्वत पर उतरते हुए॥५६॥

ऋषभनाथजीने कैलासपर्वतसे मुक्ति पाई है। जिन और अर्हत् ये शब्द जैन-तीर्थंकर लिये ही रूढ़ हैं।

ब्रह्माण्डपुराणमें देखिये—

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां मनोहरम्।
ऋषभं क्षत्रियज्येष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजो।
अभिषिच्य भरतं राज्ये महाप्राव्राज्यमास्थितः॥

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः।

यानी—नाभिराजाने मरुदेवी महारानीसे मनोहर, क्षत्रियोंमें प्रधान और समस्त क्षत्रियवंशका पूर्वज ऐसा ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न किया। ऋषभनाथसे शूरवीर सौ भाइयोंमें सबसे बड़ा ऐसा भरत

नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषभनाथ उस भरतका राज्याभिषेक करके स्वयं दिगम्बर दीक्षा लेकर मुनि हो गये। इसी आर्यभूमिमें इक्ष्वाकु-क्षत्रियवंशमें उत्पन्न, नाभिराजाके तथा मरुदेवीके पुत्र ऋषभनाथने क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चिन्य और ब्रह्मचर्य यह दश प्रकारका धर्म स्वयं धारण किया और केवल-ज्ञान पाकर उन धर्मोंका प्रचार किया।

प्रभासपुराणमें ऐसा उल्लेख है—

युगे युगे महापुण्या दृश्यते द्वारिकापुरी।
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासे शशिभूषणः॥

रेवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

अर्थात्—प्रत्येक युगमें द्वारिकापुरी बहुत पुण्यवती दृष्टिगोचर होती है, जहां पर कि चन्द्रसमान मनोहर नारायण जन्म लेते हैं। पवित्र रैवताचल (गिरनार पर्वत) पर नेमिनाथ जिनेश्वर हुए, जो कि ऋषियोंके आश्रय और मोक्षके कारण थे।

भगवान् नेमिनाथजी कृष्णके ताऊ (वसुदेवके बड़े भाई) महाराज समुद्रविजयके पुत्र द्वारिका-निवासी थे, उन्होंने गिरनार पर्वत (रैवताचल) पर तपस्या करके मोक्ष पाई है। ये बाईसवें २२ वें तीर्थंकर कृष्णके चचेरे भाई थे।

स्कन्दपुराणमें यों लिखा है—

स्पृष्ट्वा शत्रुञ्जयं तीर्थं नत्वा रैवतकाचलम्।
स्नात्वा गजपदे कुण्डे पुनर्जन्म न विद्यते॥

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वदेवनमस्कृतः।
छत्रत्रयाभिसंयुक्तां पूज्यां मूर्तिमसौ वहन्॥

आदित्यप्रमुखा सर्वे बद्धाञ्जलय ईदृशं।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदङ्घ्रियुगनीरजम्॥

परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम् ।
निरञ्जन निराकारं ऋषभन्तु महाऋषिम् ॥

भाषा—शत्रुञ्जय तीर्थका स्पर्श करके, गिरनारपर्वतको नमस्कार करके और गजपन्थाके कुन्डमें स्नान कर लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है, यानी मुक्ति हो जाती है। ऋषभनाथ सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा और समस्त देवोंसे पूजित है। उस निरंजन, निराकार, परमात्मा, केवलज्ञानी, तीनछत्रयुक्त, पूज्यमूर्तिधारक, महाऋषि ऋषभनाथके चरणयुगलका हाथ जोड़ कर हृदयसे आदित्य आदि सुर नर ध्यान करते हैं।

शत्रुञ्जय, गिरनार, गजपंथा ये तीनों क्षेत्र जैनियोंके तीर्थस्थान हैं

नागपुराणमें कहा है कि—

अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत् ।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत् ॥

अर्थ—जो फल ६८ तीर्थोंके यात्रा करनेमें होता है, वह फल आदिनाथ भगवान्के स्मरण करनेसे होता है।

ऋषभनाथका दूसरा नाम आदिनाथ है, क्योंकि ये प्रथम तीर्थंकर थे।

नागपुराणमें ऐसा लिखा हुआ है—

अकारादि हकारान्तं मूर्द्धाधोरेफ संयुतम् ।
नादविन्दुकलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥
एतद्देवि परं तत्वं यो विजानाति तत्वतः ।
संसारबन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥
दशभिर्भोजितैर्विप्रः यत्फलं जायते कृते ।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ ॥

अभिप्राय—जिसका प्रथम अक्षर अ और अन्तिम अक्षर ह है और जिसके ऊपर आधा रेफ तथा चन्द्रविन्दु विराजमान है, ऐसे 'अर्हं'को जो कोई सम्यक्रूपसे जान लेता है, वह संसारबन्धको काट·

कर परमगति (मुक्ति) को चला जाता है। कृतयुगमें दश ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे जो फल होता है, वह फल अर्हंतके भक्त एक मुनिको यानी जैनसाधुको भोजन करानेसे होता है।

प्रभासपुराणमें बतलाया है कि—

पद्मासन समासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोथैवं नाम चक्रेस्य वामनः॥
कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनात्स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः॥

तात्पर्य—वामनने पद्मासनसे बैठे हुए श्याममूर्ति और दिगम्बर नेमिनाथ का नाम शिव रक्खा, यह नेमिनाथ महाघोर कलिकालमें समस्त पापोंका नाश करनेवाला है और दर्शन तथा स्पर्शन मात्रसे करोड़ यज्ञ करनेके फलको देता है।

वामनावतारपर निगाह डालिये—

वामनेन रैवते श्रीनेमिनाथाग्रे बलिबन्धनसामर्थ्यार्थं तपस्तेपे।

यानी—गिरनार पहाड़पर श्रीनेमिनाथ जिनेन्द्रके सामने बलिराजाको बांधनेकी सामर्थ्य पानेके लिये वामन ने तप किया था।

वराहपुराणका अवलोकन कीजिये—

तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद्भारतं नाम शशास।

तात्पर्य—उस भरत राजाके पिता ऋषभनाथ हिमालय पर्वतसे दक्षिण दिशावर्ती भारतवर्षका शासन करते थे।

अग्निपुराणपर दृष्टिपात कीजिये—

ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद्भरतोऽभवत्।
भरताद्भारतं वर्षं भरतात्सुमतिस्त्वभूत्॥

भावार्थ—मरुदेवीके उदरसे ऋषभनाथ हुए, ऋषभनाथसे भरत राजाका जन्म हुआ, भरतराजा द्वारा शासित होनेसे इस खण्ड (देश) का नाम भारतवर्ष हुआ है। भरतसे सुमति हुआ।

इस प्रकार जैनग्रन्थोंमें जो भगवान् ऋषभनाथके पुत्र भरतचक्रवर्तीके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष रक्खा गया है, लिखा है, इस बातकी साक्षी यह अग्निपुराण भी देता है।

शिवपुराणकी अनुमति है कि—

अर्हन्निति तन्नामधेयं पापप्रणाशनम्।
भवद्भिश्चैव कर्तव्यं कार्यं लोकसुखावहम् ॥ ३१ ॥

भाव—'अर्हन्' यह शुभ नाम पापनाशक है, जगतसुखदायक इस शुभ नामका उच्चारण आपको भी करना चाहिये।

बहुमान्य मनुस्मृतिमें ऐसा बतलाया है—

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी चाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ॥
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥
दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥

यानी—कुल, आचरण आदिके कारणभूत कुलकर सबसे पहले विमलवाहन, फिर क्रमसे चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, नाभिराय नामक कुलकर इस भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए। तदनन्तर मरुदेवीके उदरसे नाभिरायके पुत्र मोक्षमार्गको दिखलानेवाले, सुर-असुरद्वारा-पूजित, तीन नीतियोंके विधाता प्रथम जिनेश्वर यानी ऋषभनाथ सतयुगके प्रारम्भमें हुए।

'ऋषभ' शब्दका अर्थ 'आदि जिनेश्वर' ही है। इस विषयमें शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि ऋषभ शब्दका अर्थ वाचस्पतिकोष में जिनदेव और शब्दार्थचिंतामणिमें 'भगवदवतारभेदे, आदिजिने' यानी-भगवानका एक अवतार और प्रथम जिनेश्वर यानी तीर्थंकर किया है।

इसके सिवा जैनधर्मके जन्मदाता, प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथजीको आठवां अवतार बतला कर भागवतके पांचवें स्कन्धके

चौथे पांचवें और छठवें अध्यायमें बहुत विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, हम उस प्रकरणको यहां उद्धृत करके इस लेखको बढ़ाना उचित नहीं समझते, अतः उसे छोड़कर आगे बढ़ते हैं, पाठक महाशय भागवतके पांचवें स्कन्धको अवश्य देखनेका कष्ट उठावें। उपरि-लिखित ग्रंथोंके प्रमाणोंसे इतना तो सुगमतासे सिद्ध हो ही जाता है कि सृष्टिके प्रारंभ समयमें भगवान ऋषभनाथ हुए हैं और वे पहले जिन (तीर्थंकर) थे। तदनुसार जैनधर्मकी स्थापना उस समय हुई थी यह बात स्वयमेव तथा ऋषभनाथजीके साथ जिन विशेषण रहनेसे सिद्ध होती है। इस कारण जैनधर्मके उदयकालका ठिकाना भगवान ऋषभनाथका जमाना है, जो कि १०-२० हजारके इतिहाससे भी बहुत पहले विद्यमान था।

रामचन्द्रजीके कुलपुरोहित वशिष्ठजीके बनाये हुए, 'योगवाशिष्ठ' नामक ग्रंथमें ऐसा उल्लेख है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥

अर्थात्—रामचन्द्रजी कहते हैं कि मैं राम नहीं हूं, मेरे किसी पदार्थकी इच्छा भी नहीं है, मैं जिनदेवके समान अपनी आत्मामें ही शांति स्थापन करना चाहता हूं।

इससे साफ साबित होता है कि रामचन्द्रजीके समयमें जैनधर्मका तथा उसके उद्धारक जिनदेवों (तीर्थंकरों)-का अस्तित्व था।

इन सबके सिवाय अब हम वेदोंकी ओर बढ़ते हैं। देखें, वहां भी कुछ हमारे हाथ आ सकता है या नहीं? क्योंकि आधुनिक उपलब्ध समस्त ग्रंथोंमें वेद ही सबसे प्राचीन माने जाते हैं। स्वामीजीके लिखे अनुसार वेद यद्यपि ईश्वररचित नहीं हैं किंतु अनेक ऋषियोंने वेदोंकी दृश्यमान काया बनाकर तयार की है। इस विषयको हम आगे सिद्ध करेंगे, तो भी यदि आपके आग्रहसे कुछ समयके लिये उन्हें सृष्टिकी आदिमें ईश्वरप्रणीत ही मान लें, तो भी मित्रो! जैनधर्म सृष्टिसे पूर्व

अथवा इतना नहीं तो कमसे कम सृष्टिके प्रारम्भसे प्रचलित हुआ सिद्ध होता है। क्योंकि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदके अनेक मंत्रोंमें जैन-तीर्थंकरों (अवतारों)-का नाम उल्लेख करके उनको नमस्कार किया गया है—अवलोकन कीजिये।

ऋग्वेद पर प्रथम ही दृष्टिपात कीजिये—

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद अस्तभ्राद्द्यां वृषभो तरिक्षं जमिमीते वरिमाणं। पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि। ३०। अ० ३।

अर्थ—तू अखण्ड पृथ्वी मण्डलका सारत्वचास्वरूप है, पृथ्वीतल का भूषण है, दिव्यज्ञानद्वारा आकाशको नापता है, ऐसे हे वृषभनाथ सम्राट इस संसारमें जगरक्षक व्रतोंका प्रचार करो।

यात्ति धामानि हविषा यजन्ति ता तें विश्वापरि भूरस्तु यज्ञं गयस्फानं प्ररणः सुवीरो वीरहा प्राचार सोमा दुर्यात्। ३७। अ० ३।

अर्थ—यज्ञतारक सुवीर (महावीर)को जो सोमरस चढ़ाते हैं तथा जो पुरुष उस वीरको नैवेद्यसे पूजते हैं, वे पुरुष संसारमें उन्नत होवेंगे।

महत्वं तं वृषभं वावृधानमकवारि दिव्यशासनमिंद्र विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रासदोदामिह ताह्वयेमः ॥ ३६। अ० ७॥

अर्थ—भो यजमान लोगो! इस यज्ञमें देवोंके स्वामी, सुखसंतानवर्द्धक, दुःखनाशक, दिव्यआज्ञाशाली, अपारज्ञानफलदाता वृषभनाथ भगवानको आह्वान करो (बुलाओ)।

मरुत्वान् इन्द्र वृषभो रणायपि वासोमनुष्वजध्वं मदाय आसिंचस्व जठरे मध्वा ऊर्मित्वा राजासि प्रतिपत् सुताना: ॥ ३८। अ० ७॥

हे वृषभनाथ भगवन्! उदरंतृप्तिके लिए सोमरसके पिपासु मेरे उदरमें मधुधारा सिंचन करो। आप अपनी प्रजारूप पुत्रोंको विषम-संसारसे तारनेके लिए गाड़ी समान हो।

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियं वृषभो गम्भवानसिमम ध्वरे-ष्विध्यसे ॥ ४ अ० ४ अ० ३ व० ६॥

भो वृषभदेव ! आप उत्तम-पूजकको लक्ष्मी देते हो. इस कारण मैं आपको नमस्कार करता हूं और इस यज्ञमें पूजता हूं।

अर्हंता ये सुदानवो नरो असांमिसा स प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चा मरुद्भ्यः। अ० ४ व० ४ अ० २२।

जो मनुष्याकार अनन्तदान देनेवाले और सर्वज्ञ अर्हंत हैं, वे अपनी पूजा करनेवालोंकी देवोंसे पूजा कराते हैं।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।

अ० १ अ० ६ व० १६.

अर्हन्निदं दयसे विश्वं भवभुवं न वा ओजीयो रुद्रत्वदस्ति।

अ० २ अ० ७ व० १७

भो अर्हन्देव ! तुम धर्मरूपी वाणोंको, सदुपदेशरूप धनुषको, अनन्तज्ञानादिरूप आभूषणोंको धारण किये हो। भो अर्हन् ! आप जगतप्रकाशक, केवलज्ञानको प्राप्त किये हुये हो, संसारके जीवोंके रक्षक हो, काम क्रोधादि शत्रुसमूहके लिये भयंकर हो तथा आपके समान कोई अन्य बलवान नहीं है।

दीर्घायुत्वायुबलायुर्वा शुभ जातायु। ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा।

ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये। ॐ पवित्रं नग्नमुपविप्रसामहे एषां नग्ना (नग्नये) जातिर्येषां वीरा। येषा नग्नं सुनग्नं ब्रह्म सुब्रह्मचारिणं उदितेन मनसा अनुदितेनमनसा देवस्य महषयो महर्षिभिर्जुहोति याजकस्य यजंतस्य च सा एषा रक्षा भवतु शांतिर्भवतु तुष्टिर्भवतु, शक्तिर्भवतु स्वस्तिभवतु श्रद्धाभवतु निर्व्याजं भवतु। (यज्ञेषु मूलमंत्र एष इति विधिकंदल्यां)

ऋषभं पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु यज्ञपरमं पवित्रं श्रुतधरं यज्ञं प्रति प्रधानं ऋतुयजनपशुमिन्द्रमाहवेति स्वाहा।

ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभं वदन्ति अतिचारमिन्द्रं तमरिष्टनेमिं। भवे भवे सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे तु शक्रं अजितं जिनेन्द्रं तद्वर्द्धमानं पुरुहूतमिन्द्रं स्वाहा।

नग्नं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनम्।

दधातु दीर्घायुस्त्वाय बलायवर्चसे सुप्रजास्त्वाय रक्ष रक्ष रिष्टनेमि स्वाहा। (बृहदारण्यके)

ऋषभ एव भगवान् ब्रह्मा भगवता ब्रह्मणा स्वयमेवाचीर्णानि ब्रह्माणि तपसा च प्राप्तः परं पदम्॥ (आरण्यके)

इत्यादि और भी अनेक मंत्र ऋग्वेदमें विद्यमान हैं, जिनमें जैनधर्मके उद्धारकर्ता तीर्थङ्करोंका नाम उल्लेख करके उनका नमस्कार किया है। ऋषभनाथ, अजितनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ (अपरनाम अरिष्ट-नेमि) वीरनाथ (अपरनाम महावीर) आदि जैन अरहंतों (तीर्थं-करों) के नाम हैं।

यजुर्वेदमें भी देखिये—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभः पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वरं शत्रुं जयतं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा। ॐ ज्ञातारमिन्द्रं वृषभं वदन्ति अमृतारमिन्द्रं हेव सुगतं सुपार्श्वमिन्द्र-माहुरिति स्वाहा। ॐ नग्नं सुवीरं दिग्वाससं ब्रह्मगर्भं सनातनं उपैमि वीरं पुरुषं महांतमादित्य वर्णं तमसः पुरस्तात् स्वाहा।

वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्वभुवनानि सर्वतः।स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मै स्वाहा। अ० ९ मं० २५।

अर्थ– भावयज्ञ (आत्मस्वरूप)-को प्रगट करनेवाले इस संसारके सब जीवोंको सब प्रकारसे यथार्थ रूपसे कहकर जो सर्वज्ञ नेमिनाथस्वामी प्रगट करते हैं, जिनके उपदेशसे जीवोंकी आत्मा पुष्ट होती है, उन नेमि-नाथ तीर्थङ्करके लिये आहुति समर्पण है।

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु। रूपामुपासदामेतत्तिस्त्रो रात्रीः सुरासुताः। अ० १९ मं० १४।

अर्थ—अतिथिस्वरूप पूज्य, मासोपवासी, नग्नस्वरूप महावीर तीर्थंकर की उपासना करो, जिससे कि संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप तीन अज्ञान और धनमद, शरीरमद, विद्यामदकी उत्पत्ति नहीं होती है।

ककुभः रूपं वृषभस्य रोचते वृहच्छुकः शुक्रस्य पुरोगासोमसोमस्य पुरोगाः पत्ते सोमादाभ्य' नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै तं सोम-सोमाय स्वाहा।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पति र्दधातु॥
अ० २५ मं० १६

इत्यादि और भी वहुतसी श्रुतियां यजुर्वेदमें ऐसी विराजमान हैं जो कि बहुत आदरभावके साथ जैन-तीर्थंकरोंको नमस्कार करनेके लिये प्रेरित कर रहीं हैं।

अब कुछ नमूना सामवेदमें भी अवलोकन कीजिये—

अप्पा यदि मेपवमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनानि मन्मना यूथेन निष्टा वृषभो विराजसि॥ ३ अ० १ खं ११॥

सत्राहणं दाधषि तुम्रमिन्द्र' महामपारं वृषभं सुवज्र'हं तापो वृत्रहा सनितो तं वाजं दातामधानं मघवासुराधाः। अ० १ मं० १। १०३।

न ये दिवः पृथिव्या अ'तमापुर्न मायाभिर्धनदा पर्यभुवन् युजं वज्र-वृषभश्चक्रे इन्द्रो निर्ज्योतिषा तमसोगा अदुक्षत्॥ १० प० २३।

इम स्तोम अर्हते जातवेदसे रथं इव संमहेयम मनीषया भद्रा हि न प्रमंति अस्य संसदि अग्ने सख्ये मारिषा मवयंतवः। १० अ० प० ८५।

तरणिरित्सिषासति वीजं पुरंध्याः युजा आव इन्द्रपुरुहूतं नमों-गरा नेमिं तष्टेव शुद्ध'॥ २० अ० ५ अ० ३ च० १७॥

इत्यादि और भी वहुतसे मंत्र सामवेदमें जैन-तीर्थङ्करोंके लिये पूज्य-भाव प्रगट करनेवाले विद्यमान हैं, जिनका उल्लेख करना व्यर्थ समझ कर उन्हें छोड़ देते हैं। अथर्ववेदके मन्त्रोंसे हम जैनधर्मकी प्राचीनताका

उदाहरण आपके सन्मुख पेश नहीं कर सके हैं। इसके लिये आप लोग अपने उदार हृदयसे क्षमा प्रदान कीजिये।

इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे अच्छी तरह सिद्ध होता है कि वेदोंकी उत्पत्तिके पहले जैनधर्म इस पृथ्वीतल पर बडे प्रभावके साथ फैला हुआ था। इसी कारण पुराण-निर्माताके समान वेदोंके रचयिता ऋषियोंने भी अपने मंत्रोंमें जैन तीर्थंकरोंका नाम रख कर उनको नमस्कार किया अतः कोई भी वेदोंका माननेवाला निष्पक्ष विद्वान् वेदोंकी साक्षी देकर जैनधर्मको वैदिकधर्मसे पीछे उत्पन्न हुआ नहीं कह सकता है। इस लिये वेद यदि तीन हजार वर्ष पहले बने हैं तो उसके पूर्व, यदि वे पांच हजार वर्ष पहले बने हैं, तो पांच हजार वर्ष पहले और यदि स्वामीजीके लेखानुसार वेदोंका निर्माण-समय १९७२९४९०२५ वर्ष पहले था तो जैनधर्म भी इस संसारमें इसके पहले अवश्य विद्यमान था क्योंकि उसका अस्तित्व सिद्ध करनेवाले पूर्वोक्त अनेक वेद-मन्त्र विद्यमान हैं। यद्यपि इन मन्त्रोंका अर्थ स्वामीजीने कुछका कुछ लगाकर पलटना चाहा है कि "ऋषभाद्यवर्द्धमानान्तान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान्" आदि स्पष्ट वाक्योंका अर्थ नहीं बदला जा सकता है, उनसे तो साफ प्रकाशित होता है कि जैनधर्ममें जो उसके उद्धारक २४ तीर्थंकर माने हैं, उनका नाम उल्लेख करके ही यह सब कुछ लिखा गया है। अतः यदि महाभारतके समय देखा जाय तो उस समय नेमिनाथजी तीर्थङ्कर विद्यमान थे। जैसा कि उस समयके बने हुए ग्रन्थोंसे भी प्रगट होता है, अतः उस समय जैनधर्मका सद्भाव स्वयं सिद्ध है। यदि रामचन्द्र, लक्ष्मणके समयका विचार किया जाय तो उस समय भी जैनधर्मकी सत्ता पाई जाती है क्योंकि एक तो उस समय जैनोंके २० वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथजीने जैनधर्मका प्रचार किया था, जिसका प्रभाव उस समयके बने हुए वशिष्ठकृत योगवाशिष्ठके पूर्वलिखित श्लोकसे प्रगट होता है। अब विचार कीजिये उस समयसे पहले १९ तीर्थङ्कर और हो चुके थे, जिन्होंने जैनधर्मका प्रचार किया था तब जैनधर्म इस संसारमें कितने समयसे

प्रचलित हुआ है? भगवान ऋषभनाथजी सबसे पहले जैनधर्मको प्रचार में लाये थे। अतः उनका सद्भावकाल मालूम हो जाने पर जैनधर्मका प्रारम्भकाल ज्ञात हो सकता है। इस बातके लिये हमारी समझसे इतिहास तो हार मानता है क्योंकि वह तो वेचारा ४-५ हजार वर्ष से पहले जमानेका हाल प्रगट करनेमें असमर्थ है। अब स्वामीजी स्वर्गसे उतर कर भगवान ऋषभनाथजीके जमानेको बतला जावें तब ठीक हो। आप लोगोंको जैनधर्मसे पूर्व वैदिकधर्मके होनेकी स्वामीजीके लिखे अनुसार आशा थी सो वेदोंने भी आपको धोखा देकर आपको निराश कर दिया।

सारांश—किसी भी प्रमाणसे जैनधर्मका प्रारम्भकाल सिद्ध नहीं होता है, तथा अन्य धर्मोंका उदय-समय अवगत होता है, अतः जैनधर्म सबसे अधिक प्राचीन धर्म है। वेद उसके पीछे बने हैं, वेदोंके बननेसे बहुत समय पहले श्रीऋषभनाथजी तीर्थङ्कर हो चुके हैं, जिनको कि हिंदुओंने आठवां या नवमा अवतार बतलाकर भागवत, प्रभासपुराण आदि पुराणोंमें, मनुस्मृतिमें तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेदमें स्मरण किया है। अतः जैनधर्मका उदयकाल बतलाना कठिन ही नहीं किंतु असम्भव है। पक्षपात छोड़कर विचारिये।

अब आपके सामने प्रसिद्ध प्रसिद्ध प्राचीन इतिहास-वेत्ताओंके मत जैनधर्मके उदयकाल बतलानेके विषयमें प्रगट करता हूं। देखिये कि वे लोग भी क्या कहते हैं—

प्राचीन इतिहासके सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीनगेन्द्रनाथजी वसु अपने 'हिन्दी-विश्वकोष'के प्रथम भागमें ६४ वें पृष्ठपर लिखते हैं—

ऋषभदेवने ही संभवतः लिपिविद्याके लिये लिपिकौशलका उद्भावन किया था। ......ऋषभदेवने ही संभवतः ब्रह्मविद्या शिक्षाकी उपयोगी ब्राह्मीलिपिका प्रचार किया, हो न हो; इसीलिये वह अष्टम अवतार बताये जाकर परिचित हुए।

इसी कोषके तीसरे भागमें ४४४ वें पृष्ठ पर यों लिखा है—

भागवतोक्त २२ अवतारोंमें ऋषभ अष्टम हैं। इन्होंने भारतवर्षाधिपति नाभिराजाके औरस और मरुदेवीके गर्भसे जन्म ग्रहण किया था। भागवतमें लिखा है कि—जन्म लेते ही ऋषभनाथके अंगमेंसे सब भगवतके लक्षण झलकते थे। इत्यादि।

श्रीमान् महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्रजी विद्याभूषण एम० ए० पी० एच० डी० एफ० आई० आर० एस० सिद्धांतमहोदधि प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता, अपने भाषणमें फरमाते हैं—

जैनमत तबसे प्रचलित हुआ है, जबसे संसारमें सृष्टिका प्रारम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकारका उज्र नहीं है कि जैनदर्शन वेदांतादि दर्शनोंसे पूर्वका है।

भारतगौरव तिलक विद्वत्शिरोमणि लोकमान्य पं० बालगङ्गाधरजी तिलक अपने केसरी पत्रमें १३ दिसंबर सन् १९०४को लिखते हैं कि—

महावीर स्वामी जैनधर्मको पुनः प्रकाशमें लाये। इस बातको आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्धधर्मकी स्थापनाके पहले जैनधर्म फैल रहा था; यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थङ्करोंमें महावीरस्वामी अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इससे भी जैनधर्मकी प्राचीनता जानी जाती है।

मिस्टर कन्नूलालजी जोधपुर दिसम्बर तथा जनवरी सन् १९०४-५ को थिओसोफिस्टमें लिखते हैं—

जैनधर्म एक ऐसा प्राचीन धर्म है कि जिसकी उत्पत्ति तथा इतिहासका पता लगाना एक बहुत ही दुर्लभ बात है। इत्यादि—

श्रीयुत वरदाकांतजी मुखोपाध्याय एम० ए० लिखते हैं—

पार्श्वनाथजी जैनधर्मके आदि प्रचारक नहीं थे, परन्तु इसका प्रचार ऋषभदेवजीने किया था, इसकी पुष्टिके प्रमाणोंका अभाव नहीं है।

श्रीयुत तुकाराम कृष्णजी शर्मा लट्टू बी० ए० पी० एच० डी० एम० आर० ए० एस० एम० ए० एस० बी० एम० जी० ओ० एस० प्रोफेसर शिलालेख आदि क्वींसकालेज बनारस, अपने व्याख्यानमें कहते हैं—

सबसे पहले इस भारतवर्षमें ऋषभदेवजी नामके महर्षि उत्पन्न हुए। वे दयावान, भद्रपरिणामी पहले तीर्थंकर हुए; जिन्होंने मिथ्यात्व अवस्थाको देख कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षशास्त्रका उपदेश किया। बस, यह ही जिनदर्शन इस कल्पमें हुआ। इसके पश्चात् अजितनाथसे लेकर महावीर तक तेईस तीर्थङ्कर अपने अपने समयमें अज्ञानी जीवोंका मोह-अन्धकार नाश करते रहे।

श्री स्वामी विरुपाक्ष वडियर धर्मभूषण, पंडित, वेदतीर्थ विद्यानिधि एम० ए० प्रोफेसर संस्कृतकालेज इन्दौर, 'चित्तमय-जगत'में लिखते हैं कि—

ईर्षा-द्वेषके कारण धर्मप्रचारको रोकनेवाली विपत्तिके रहते हुए जैनशासन कभी पराजित न हो कर सर्वत्र विजयी ही होता रहा है। अर्हन्देव साक्षात् परमेश्वर स्वरूप है इसके प्रमाण भी आर्यग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। अर्हंत परमेश्वरका वर्णन वेदोंमें भी पाया जाता है...ऋषभदेव का नाती मरीची प्रकृतिवादी था और वेद उसके तत्वानुसार होनेके कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थोंकी ख्याति उसीके ज्ञानद्वारा हुई है फलतः मरीची ऋषिके स्तोत्र, वेद, पुराण आदि ग्रन्थोंमें हैं और स्थान स्थानमें जैन तीर्थङ्करोंका उल्लेख पाया जाता है तो कोई कारण नहीं कि हम वैदिककालमें जैनधर्मका अस्तित्वान मानें, वेदोंमें जैनधर्मको सिद्ध करनेवाले बहुतसे मन्त्र हैं। सारांश यह है कि इन सब प्रमाणोंसे जैनधर्मका उल्लेख हिंदुओंके पूज्य वेदमें भी मिलता है।

विचार कीजिये एक कट्टर वेदानुयायी वेदतीर्थ पदवी प्राप्त, बड़ा प्रसिद्ध विद्वान् निष्पक्ष हो कर जैनधर्मके उदयकालके विषयमें कैसा स्पष्ट लिखता है। क्या इस विद्वान्का लिखना भी असत्य है?

श्रीयुत ला० कन्नोमलजी एम० ए० सेशनजज धौलपुर, ला० लाजपतरायजी लिखित भारत-इतिहासमें जैनधर्म सम्बन्धी आक्षेपोंके प्रतिवादमें लिखते हैं कि—

सभी लोग जानते हैं कि जैनधर्मके आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव

स्वामी हैं, जिनका काल इतिहासपरिघोसे कहीं परे है; इनका वर्णन सनातनधर्मी हिन्दुओंके श्रीमद्भागवत पुराणमें भी है। ऐतिहासिक गवेषणासे मालूम हुआ है कि जैनधर्मकी उत्पत्तिका कोई काल निश्चित नहीं है। प्राचीनसे प्राचीन ग्रन्थोंमें जैनधर्मका हवाला मिलता है। श्री पार्श्वनाथजी जैनोंके तेईसवें तीर्थङ्कर हैं इनका समय ईसासे १२०० वर्ष पूर्वका है, तो पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि ऋषभदेवजीका कितना प्राचीनकाल होगा। जैनधर्मके सिद्धांतोंकी अविच्छिन्न धारा इन्हीं महात्माके समयसे बहती रही है. कोई समय ऐसा नहीं है जिसमें इसका अस्तित्व न हो। श्रीमहावीरस्वामी जैनधर्मके अन्तिम तीर्थङ्कर और प्रचारक थे; न कि उसके आदि संस्थापक और प्रवर्तक।

इत्यादि और भी बहुतसे अजैन विद्वानोंके मत मौजूद हैं, जो कि विस्तार हो जानेके भयसे नहीं दिये गये हैं। उपर्युक्त सभी महाशय अजैन होते हुए पक्के वेदानुयायी हैं किंतु अपने सच्चे निष्पक्ष हृदयसे जैनधर्मका अस्तित्व सृष्टिके प्रारम्भ समयसे स्पष्ट तौर पर स्वीकार करते हैं, जिसको कि आप लोग भी किसी तरह असत्य नहीं कह सकते. फिर क्यों न कहा जाय कि स्वामी दयानन्दजीने जैनधर्मको वैदिकधर्मसे पीछे प्रचलित हुआ; लिखकर अपने वेदोंको बड़े बतानेकी इच्छासे बहुत भारी ऐतिहासिक भूल की है!

प्रतिमा-पूजन पर विचार।

११

स्वामीजीने मूर्तिपूजाको सत्यार्थप्रकाशमें अनेक स्थान पर पाखंड और व्यर्थ बतलाया है जैनधर्मके ऊपर मूर्तिपूजक होनेके कारण अनुचित तौरसे आक्षेप भी किये हैं, जो कि सभ्यताके ढंगसे बाहरकी बात है। अस्तु, स्वामीजीने इस विषयमें भी बहुत भारी भूल की है क्योंकि मूर्तिपूजाका विषय ऐसा महत्वशाली है, कि जिसको बिना माने संसारका कार्य चलना मुश्किल ही नही किंतु असंभव है। इसी विषयको अब आपके सामने प्रगट किया जाता है, आप इसे दिलचस्पीके साथ विचारपूर्वक पढ़ें।

स्वामीजीने मूर्तिपूजाको व्यर्थ सिद्ध करनेके लिये सत्यार्थप्रकाशके ३२३वें पृष्ठ पर यों लिखा है कि (प्रश्न) मूर्तिपूजा कहांसे चली? (उत्तर) जैनियोंसे। (प्रश्न जैनियोंने कहांसे चलाई? (उत्तर) अपनी मूर्खतासे। (प्रश्न) जैनी लोग कहते हैं कि शान्त ध्यानावस्थित बैठी हुई मूर्ति देखके अपने जीवका भी शुभ परिणाम वैसा ही होता है। (उत्तर) जीव चेतन और मूर्ति जड़। क्या मूर्तिके सदृश जीव भी जड़ हो जायगा? यह मूर्तिपूजा केवल पाखंडमत है, जैनियोंने चलाई है। इसलिये इनका खंडन १२वें समुल्लासमें करेंगे। ऐसा ही बारहवें समुल्लासके ४७३वें पृष्ठ पर लिखा है कि "जो पाषाण-मूर्तियोंके देखनेसे शुभ परिणाम मानते हो तो उसके जड़त्वादि गुण भी तुम्हारेमें आ जांयगे, जब जड़बुद्धि होगे तब नष्ट हो जाओगे। दूसरे जो उत्तम विद्वान् हैं, उनके संगसेवासे छूटनेसे मूढ़ता भी अधिक होगी।" मूर्तिपूजा प्रचलित करके जैनियोंने मूर्खता की है? या मूर्तिपूजाका निषेध करके स्वामीजीने भूल की है? यह विषय आपके सन्मुख पेश होता है, उस पर खूब विचार कीजिये।

प्रियमित्रवर्ग! हम अपने नेत्रोंसे जड़ पदार्थोंके संबन्धसे जीवके ऊपर होनेवाले असरको प्रति दिन देखते रहते हैं और स्वयं अनुभव

भी करते हैं। देखिये! हम लोग सवेरेसे उठ कर शामतक जो कुछ भी प्रतिदिन अटूट परिश्रम करते हैं-नौकरी, व्यापार, शिल्प, कारीगरी मजूरी आदि कार्य करते हैं, पैदल, रेल, बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, मोटर, जहाज, वायुयान आदि द्वारा अपने प्राणोंको जोखिममें डालते हुए जमीन, जल और आकाशका मार्ग नापनेमें लग जाते हैं; वह सब किस लिये? उत्तर—इसका सिर्फ यही है कि चार पैसे पैदा करनेके लिये। इसके बाद जब कोई यह प्रश्न करे कि चार पैसे क्यों पैदा करते हो? उस समय हमारे मुखसे यही उत्तर निकलेगा कि भाई! उन चार पैसोंसे ही हम अपना और अपने कुटुम्बका जीवन कायम रख सकते हैं, इसलिये अपने जीवनकी रक्षाके लिये उन चार पैसोंको जैसे-तैसे पैदा करना हमको आवश्यक दीखता है। इससे मतलब यह निकलता है कि जो पदार्थ जड़ समझे जाते हैं; उन्हीं अन्न, रुपया-पैसा, वस्त्र आदि जड़ पदार्थोंसे हमारा चेतन जीव कायम रह सकता है। जीव यदि अभिमानमें आ कर क्षण भरके लिये भी सर्वथा उनका सहारा छोड़ दे तो फल यह निकले कि उसकी सत्ता (हस्ति) इस लोकसे मिट जावे। जाने दीजिये, इस दृष्टांतको। दूसरा उदाहरण लीजिये, धनवान मनुष्य शहरके बीच ऊंचे, पक्के सुरक्षित मकानमें भी रहते हुए प्रायः चिंतित और भयाकुल रहते हैं और गरीब या साधु, फकीर लोग चौड़े मैदानमें फूंसके झोंपड़ेमें पड़े हुए भी बेफिकर होकर गहरी नींद लेते हैं। ऐसी उलटी बात क्यों दीख पड़ती है? उत्तर यही है कि धनवानको अपने धनकी रक्षा करनेकी चिंता और चोरी, डकैती आदिसे उसके छिन जानेका भय रहता है तथा निर्धन पुरुष अपने पासमें धन न रहनेके कारण इस चिंता और भयसे बचा रहता है। अस्त्र, शस्त्रधारी मनुष्य शत्रुके आक्रमणसे निःशंक और शस्त्रहीन पुरुष शत्रुसे क्यों शंकित रहता है? केवल इसलिये कि, शस्त्रधारी मनुष्य शस्त्रोंके सहारे शत्रुके आक्रमणको रोकनेका बल रखता है और शस्त्रहीन अपने पास शस्त्र न होनेके कारण शत्रुके आक्रमणसे अपने प्राणोंको

संकटमें समझता है। इन तीन उदाहरणोंसे हम इस नतीजेपर आ पहुंचते हैं, कि जड़पदार्थ चेतन जीव पर बहुत भारी असर डालता है। बिजली, भाप, गैस आदि पदार्थोंकी ओर देखनेसे तो जड़पदार्थके द्वारा जीव पर होनेवाले असरके विषयमें संदेह कपूरके समान बिलकुल उड़ जाता है। इस कारण मूर्तिपूजाके विषयमें स्वामीजीका लिखना आठ आने भर तो यहां स्वयं खण्डित हो जाता है, क्योंकि ऊपरके उदाहरणोंसे हम यह अभिप्राय निकाल चुके हैं कि जड़ पदार्थ भी चेतन जीव पर बड़ा भारी असर डालते हैं।

अब मूर्तिके विषयमें खोज कीजिये—मूर्ति शब्दके अभिप्रायको कहने वाले प्रतिमा, चित्र तसवीर, शक्ल,सूरत फोटो आदि अनेक शब्द हैं। हम जब कि अपने हृदयका बल विचारते हैं, तब हमें यही पता लगता है कि मूर्ति हमारे हृदय पर बहुत भारी प्रकाश डालती है देखिये, हमारे सामने जब मित्रकी मूर्ति वह चाहे पत्थरकी हो या कागजकी हो; आती है, तब हृदयमें प्रेम, हर्ष उमड़ आता है और जब शत्रुकी फोटो दीख पड़ती है तो क्रोध-भाव पैदा हो जाता है। तसवीरें सब यद्यपि साधारण तौरसे बराबर हैं किंतु सुन्दर विलासिनी वेश्याकी तसवीर हृदय पर खराब रागभाव पैदा कर देती है और भीम, महाराणा प्रतापसिंह आदिका चित्र देखकर वीरताका भाव हृदयमें तुरंत उत्पन्न हो जाता है, जिस समय आंखोंके सामने किसी लोकोपकारी-महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि सरीखे पुरुषकी प्रतिमाएं आती हैं तब हृदय भक्तिरसमें डूब जाता है। दीन-दरिद्रकी मूर्ति देखकर दिलपर दयाभावका अंकुर जमता है और संसारत्यागी किसी साधुकी फोटो देखकर वैराग्य-भाव उत्पन्न हो आता है। ऐसे भाव क्यों उत्पन्न होते हैं? केवल इस लिये कि आंखोंके सामने आई हुई मूर्तिने हमारे हृदय पर अपना प्रभाव डाला। इसीको दूसरी तरह यों कह लिजिये कि मूर्तिके सम्बन्धसे हमारा हृदय उस तरह पलट गया। मूर्तिका प्रभाव यहीं तक समाप्त नहीं हो जाता है किंतु इसके आगे बढ़कर। देखिये, ऋतुकालके पीछे स्नानकी

हुई स्त्रीके सामने जिस पुरुषकी मूर्ति आती है, गर्भ रहजाने पर गर्भवाले बालककी सूरत भी वैसी ही हो जाती है, गर्भिणी स्त्रीको यदि अपने पतिका तथा बलवान, सदाचारी, यशस्वी पुरुषका चित्र देखनेमें आता रहेगा, तो पुत्र अपने पिताकी सूरतका तथा बलवान, सदाचारी उत्पन्न होगा। यदि गर्भिणी माता बदसूरत, कलंकित पुरुषके चित्रका निरीक्षण करती रहे तो स्वयं तथा अपने पतिके सुंदराकार और सदाचारी रहने पर भी बदसूरत, असदाचारी पुत्रका प्रसव करेगी। यह बात दृष्टांतोंसे, अनुभवसे और साइन्ससे सिद्ध है। वीरकेसरी नैपोलियन बोनापार्टकी माताने नैपोलियन सरीखे वीरको; वीर पुरुषोंके चित्र देख देख कर ही गर्भ उत्पन्न किया था। ऐसा क्यों हुआ या होता है? इस प्रश्नका एक ही उत्तर है कि मूर्ति अपना प्रभाव गर्भिणी माताके गर्भ पर डालती है और वह भी इतना भारी कि उसके उदरवर्ती गर्भकी सूरत अपने सरीखे कर देती है। इस बातको आप अपने सच्चे दिलसे अवश्य मानेंगे क्योंकि प्रमाणसिद्ध बातको आप सचाईके कांटे पर रख कर उसकी यथार्थताको कहां छिपा सकते हैं। बस, मूर्तिपूजाका सिद्धांत यहीं पर बड़ी शानके साथ सिद्ध हो गया और स्वामीजीका पक्ष गिरकर चकना चूर हो गया किंतु फिर भी थोड़ा और चलिये—

मूर्ति दो प्रकारकी होती है; एक तदाकार और दूसरी अतदाकार। जो मूर्ति असली पदार्थके आकारको हो उसे तदाकारमूर्ति कहते हैं। जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़े आदिके खिलौने, तसवीरें, प्रतिमा आदि और जो असली पदार्थके आकारमें न होते हुए भी उस पदार्थके बोध कराने का चिन्ह हो, उसे अतदाकार मूर्ति कहते हैं। जैसे शतरंजकी गोटें जो कि राजा, मन्त्री, हाथी आदि समझी जाती हैं। आपके सामने तदाकार मूर्तिका जीवके ऊपर प्रभाव पड़नेके अनेक उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। अब कुछ अतदाकार मूर्तिके प्रभावकी कथा भी देख लीजिये—प्रत्येक लिपियोंके जो अक्षर हैं, वे क्या चीज हैं? इस प्रश्नका उत्तर आप यही देंगे; कि अपना अभिप्राय प्रगट करनेके चिन्ह हैं। हम

जो अपने मुखसे "क, ख" आदि उच्चारण करते हैं यह उच्चारण तो किसी फोटोमें आ नहीं सकता है। इसलिये उस उच्चारणकी तदाकार मूर्ति बनाना तो असम्भव है। इस निमित्तसे विवश हो पुरुषोंको क, ख, A, B, आदिकी शक्लोंमें चिन्ह मानने पड़े हैं। अब इन चिन्हरूप अतदाकार मूर्तियोंका भी चेतन जीवपर पड़ता हुआ अचिन्त्य प्रभाव देखिये, प्रथम तो इन्हीं हिंदी, अंग्रेजी आदि लिपियोंद्वारा सारे संसारका कारोबार चल रहा है। अतः विशेष समझनेके लिये लिखना व्यर्थ है किंतु फिर भी २-१ और उदाहरण भी लीजिये—जिस समय किसी व्यापारी के पास किसी निजी दिशावरकी दूकानपर दश लाख रुपयेके लाभ होने का तार आता है, उस समय वह उसी अतदाकारमूर्ति यानी तारको देखकर अनेक तरह हर्ष मनाता है और जब कि उसके पुत्रके स्वर्गवास होनेका तार आता है, तो उसी तारको देखकर उसके घरमें रोना फैल जाता है। स्कूलोंमें विद्यार्थी जोगरफी (भूगोल) पढ़ते हैं किंतु उन्हें उसको ठीक तरह समझनेके लिये नक्शेकी जरूरत रहती ही है। वह नकशा असलियतमें चीज क्या है? नगर, सड़क, रेलवे लाइन, नदी, पहाड़, समुद्र, टापू, खाडी, झील आदिके समझनेको अतदाकार मूर्ति यानी चिन्होंका समूह ही तो है, रेलवे स्टेशनके पास खड़े हुए सिगनल क्या पदार्थ हैं? अतदाकार मूर्ति ही तो है किंतु रेलगाडीके आने, जाने, रोकनेका बड़ा भारी काम करता है। जहाज, रेल, युद्ध आदिके झंडे यद्यपि केवल कपड़ेके टुकड़े हैं किंतु उन्हींसे जहाज, सेना, रेल आदि का संचालन होता है। घड़ी तथा उसमें लगी हुई छोटी बड़ी सुइयां असलियतमें लोहे टीनके टुकड़े ही हैं किंतु समय (टाइम) समझनेके लिये बहुत अच्छा साधन है। सत्यार्थप्रकाश क्या चीज है? वह केवल स्वामी दयानन्द सरस्वतीके विचारोंकी अतदाकार सूरत ही तो है। वेद को देखा जाय तो वह केवल कागज दीख पड़ता है किंतु फिर भी पुरातन ऋषियोंके विचारोंको प्रगट करनेवाली अतदाकार मूर्ति है। इन अतदाकार मूर्तियोंसे जीव पर क्या असर पड़ता है, यह बात तो

स्वामीजीसे भी नहीं छिपी होगी। फिर भी उन्होंने मूर्तिपूजाका क्यों निषेध किया? इसका आश्चर्य है! क्या स्वामीजी वेदकी पूजा (इज्जत) नहीं करते थे? क्या वेदोंका अनादर करनेवाले पुरुष पर उन्हें क्रोध नहीं आता था? अवश्य आता था क्योंकि निर्दोष जैनधर्मपर अपशब्दों की बौछार करनेका कारण तो यही है। फिर जड़ पुस्तकरूप वेदोंका आदर-सत्कार करनेवाले स्वामीजी तथा आप लोग (आर्यसमाजी) मूर्तिपूजासे क्योंकर मनाही (निषेध) कर सकते हैं। इस प्रकार मूर्ति-पूजाका सिद्धान्त स्वामीजी ही स्वयं पुष्ट करते हैं। फिर वह मूर्तिपूजा जैनियोंसे प्रारम्भ हुई। तब वह तो जैनधर्मके महत्वको ही प्रगट करती है, स्वामीजी इस बातको फिर भी मूर्खता कहते हैं। विचारिये कि मूर्खता किसके पल्लेमें है।

मूर्तिपूजाकी वज्रभित्तिको हिलानेके लिये कोई कोई कुतर्की कुतर्क उठाते हैं कि पत्थर पत्थर सब जब कि एक सरीखे हैं फिर और दूसरे पत्थरोंके समान मूर्ति क्यों पूज्य है? दूसरे—जिस मूर्तिको कारीगर अविनयके साथ टांकीसे छीलछाल कर बनाते हैं, उसमें फिर पूज्यता कैसे आ सकती है? इनका उत्तर इस प्रकार है कि पत्थर पत्थर यद्यपि एकसे हैं किन्तु पत्थरकी मूर्ति ही पूज्य हो सकती है जैसे कि कागजके टुकड़े यद्यपि एकसे होते हैं किन्तु हुंडी, नोट आदिका कागज तो हजारों लाखों रुपये क्यों देता है? वेदकी पुस्तकके कागज क्यों कीमती और पूज्य समझे जाते हैं? और कागजके टुकड़े क्यों नहीं कीमती हैं? क्यों रद्दीमें उन्हें डाल देते हैं? इसके उत्तरमें आप यही बोल सकते हैं कि हुन्डीपर धनिक सेठकी, नोटपर सरकारकी और वेदपर ऋषियोंके अभिप्रायोंकी छाप हैं। जब कि ऐसा है तब पत्थरकी मूर्ति देवकी छाप-से पूज्य क्यों नहीं हो सकती? अवश्य हो सकती है। वैसे तो किसी कोरे कागजकी कुछ कीमत और इज्जत नहीं किंतु यदि उस पर स्वामी दयानन्दजीका फोटो खेंच दिया जाय तो क्या फिर उस कागजकी आर्यसमाजी इज्जत नहीं करेंगे? और उसके अनादर (बेइज्जती)-से

बुरा न मानेंगे ? अवश्य मानेंगे। अब कहिये मूर्ति पूजा है, या नहीं ? पहली कुतर्क तो यों उड़ जाती है।

दूसरी तर्क भी निर्मल है। क्योंकि जो स्वामी दयानन्दजी या महात्मा गांधीजी बचपनमें साधारण बालकोंके समान अपने गुरुसे शिक्षा पाते थे, वे क्या फिर किसीके लिये पूज्य नहीं हुए ? जिस लड़केको मार-पीट कर पढ़ाया जाय और वह पढ लिख कर डिप्टी कलक्टर, कमिश्नर या डिप्टी-कमिश्नर हो जाय, तो क्या वह फिर लोगोंके लिये वैसा ही मार पीट खानेका पात्र रहता है ? क्या फिर मनुष्य उसको नहीं मानते हैं ? अवश्य मानते हैं। फिर यदि कोई पत्थर ठोंक-ठांककर किसी देवको मूर्तिमें बना लिया जाय, तो वह पूज्य क्यों नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है। इस प्रकार दूसरी तर्क भी नहीं ठहरती है।

मूर्तिपूजाके विषयमें अन्तिम एक प्रश्न आप लोग यह उठा सकते हैं कि उपदेश बोलने-चालनेवाले चेतन पदार्थसे मिल सकता है। जड़ पत्थरकी मूर्ति हमको क्या उपदेश दे सकती है ? इस पर उत्तर यह है, कि मूर्ति भी अपनी चेष्टाके द्वारा उपदेश देती है। देखिये ! हम यदि दो वर्षके बालकको हंसमुखकी शक्लसे दो थप्पड़ लगाते हैं, तब वह रोता नहीं है किंतु जिस समय हम अपना चेहरा क्रोधित बनाकर उसे कुछ हाथ भी नहीं लगाते हैं, तब भी वह रोने लगता है। यह क्या बात है ? यही कि दो वर्षके अबोध बालकने हमारी मूर्तिसे हमारे हृदयका भाव पहचाना। कांग्रेसमें नेतालोग जो कुछ भाषण देते हैं वह तो यद्यपि छप कर दो पैसेके अखबारसे मालूम हो सकता है। फिर भी लोग कांग्रेसमें सैकड़ों रुपये खर्च करके क्यों जाते हैं ? केवल इसलिये कि जो शिक्षा उनकी मूर्ति देख कर मिल सकती है; वह अखबारसे नहीं। लाहोरमें लार्ड लैरेन्सकी खड़ी हुई पत्थरकी मूर्ति भारतीय लोगोंको कह रही है कि तुम तलवारका राज्य चाहते हो या कलमका ? कोई मनुष्य यदि चुपचाप रह कर भी अपना भूखा पेट दिखला कर दीन चेष्टा बनावे तो लोग समझ लेते हैं, कि यह खाना मांग रहा है; ऐसा क्यों ? इसी

लिये कि उसकी चेष्टा यह बात कहती है। बस! यही बात पाषाणमूर्ति केलिये भी लागू है। कोई मूर्ति (काली देवीकी) लाल जीभ निकाले हाथमें नंगी तलवार लिये आँखें चढ़ाये खड़ी है। तो वह यह कह रही है, कि मुझे शत्रुओंको मारकर उनका रक्त पीना है। यदि जैनियोंके अरहंतदेवकी अल्पवयस्क निर्विकार बालकके समान नग्नमूर्तिको देखा जाय तो उससे विना बोले भी यही उपदेश मिलता है, कि संसारमें कोई भी पदार्थ आत्माका नहीं है, जीव पैदा होते समय जैसे अपने साथ कुछ नहीं लाता है उसी प्रकार वह मरते समय भी अपने साथ कुछ नहीं ले जायगा, आत्माके साथमें ज्ञान आदि गुण ही जावेंगे, इसलिये संसारी सभी चीजोंको पराई जानकर छोड़ दो और अपने को शान्तिका घर निर्ग्रन्थ (सब धन, वस्त्र आदिसे रहित) बनाओ। जब तक तुम्हारे पास एक लँगोटी भी रहेगी तब तक भी तुम अपने ऐबोंको ऊपरसे छिपानेकी कोशिश करोगे और उस लंगोटीमें प्रीति रखकर संसारकी चीजोंकी ओर झुकोगे। अपनी निर्विकार चेष्टाको सब वस्त्र छोड़कर दिखलाओ, जिससे कि तुम्हारी इन्द्रियोंपर विजय पा लेनेकी लोगोंको भी परीक्षा हो। तुमको दुःख और बनावटी सुख इन संसारी चीजोंमें प्रेम और वैर माननेसे ही हो रहा है, अतः इन सब पदार्थोंमें राग-द्वेष छोड़कर एकान्तमें अपनी आत्माका ध्यान करके अपनेको शुद्ध बनाओ इत्यादि। इसलिये सिद्ध होता है, कि मूर्ति भी अपनी चेष्टासे उपदेश देती है और मनुष्य उसके सहारेसे अपनेको सुधार सकता है।

अब स्वामीजीका जैनियोंकी मूर्तिपूजापर आखिरी प्रश्न यह है, कि निर्ग्रन्थ नग्नअरहन्तमूर्तिको लाखों रुपयेकी लागतके सुन्दर विशाल मंदिरोंमें रखकर जैन लोग उससे किस प्रकार वैराग्य-भाव की शिक्षा ले सकते हैं? इसका उत्तर यह है, कि हम संसारी लोगों का मन बहुत कमजोर है, वह एकदम उतने बड़े वैराग्य तक नहीं पहुंच सकता है, इस कारण उस मूर्तिके दर्शन करने तक पहुंचानेके

लिये मंदिर और उसकी सजावट कारण है; जैसे कि कुनैन खानेके लिये बतासा। हमारा हृदय चौड़े मैदानमें मूर्ति रखकर जितना अधिक उस ओर नहीं लग सकता; जितना कि मंदिरमें लग सकता है क्योंकि हमारा मन प्रथम ही कुछ रागभाव अवश्य चाहता है, अतः जैनियोंकी अपनी अरहन्तमूर्तिके लिये सुन्दर मंदिरोंकी आवश्यकता है। इस विषयमें यह सन्देह न कीजिये कि जैनी लोग मंदिरकी सजावट देखनेमें ही फंस कर मूर्तिसे कुछ लाभ नहीं उठा पाते होंगे क्योंकि प्रत्येक मौके पर लोगोंकी निगाह मुख्य पदार्थ पर ही रहती है; जैसे कि व्याख्यानभवनके लिये (लैक्चरहाल) यद्यपि बड़ी सजावट की जाती है; किंतु इस लिये नहीं कि लोग इस सजे हुए मण्डपको ही देखें और न वहांपर आये हुए हजारों लोग ऐसा करते ही हैं वे तो केवल व्याख्यानदाताको (लैक्चरार) देखते हैं और उसके व्याख्यानको हृदयमें उतारते हैं। यदि व्याख्यानके लिये सुन्दर कमरा न हो, तो लोगोंका मन उतना नहीं लगता है और न अधिक एकत्र ही होते हैं। इसी प्रकार जैन लोग मंदिरमें आकर श्रीअरहन्तमूर्तिके दर्शन करनेको उसके शांत वीतराग आकारसे उत्तम शिक्षा लेनेके लिये ही आते हैं; और ऐसा ही करते हैं केवल मंदिरकी सजावटको आकर देखना उनका प्रयोजन नहीं रहता।

ध्यान रखना चाहिये कि जैनी लोग पाषाणमूर्तिकी पूजा नहीं करते हैं किंतु उस मूर्तिवाले अरहन्तकी पूजा करते हैं। अरहन्तके असली स्वरूप तक पहुंचनेके लिये मूर्तिद्वारा अपने मनको उधर झुकाते हैं। आप लोग जो ईश्वरके गुणगान करते हुए सन्ध्यावंदन आदि करते हो वह क्या है? वह भी ईश्वर तक पहुंचनेका एक साधन ही है; किंतु इतना कमजोर, जिसके सहारेसे गृहस्थ लोग असली लाभ नहीं उठा सकते। अर्थात् हम तुम सरीखे कुछ भी विचार करें; पहले उसका कुछ न कुछ खाका जरूर खींच लेते हैं। निराकार ईश्वरका ध्यान भी तभी हो सकता है, जब कि कमसेकम हृदय पर उसका कुछ न कुछ

आकार खिंच जाय। "ईश्वरके सर्वव्यापक होनेसे उसकी मूर्ति बनाना अयोग्य है।" स्वामीजीका यह अभिप्राय निर्मूल है; क्योंकि ईश्वरके सर्वव्यापक होनेमें कोई भी प्रमाण नहीं है। पीछेका प्रकरण देखिये।

सत्यार्थप्रकाशका ११ वां समुल्लास पढ़नेसे मालूम होता है, कि स्वामीजीने मूर्तिपूजाके सहारेसे दो अयोग्य बातें देखकर मूर्तिपूजाको ठीक नहीं समझा। एक तो मूर्तिपूजक पंडे पुजारियोंके अत्याचार होना दूसरे मुसलमानों आदिसे मूर्तिकी अविनय होना। इन दोनों बातोंका उत्तर हम यही दे सकते हैं, कि मूर्तिपूजाका सहारा लेकर जैन लोग कहीं भी स्वार्थ नहीं गांठते हैं और न उनके यहां पुजारियोंके; अन्य-मतोंके समान अत्याचार ही होते हैं। यहां तो प्रायः सर्वसाधारण जैन लोग पुजारी होते हैं, खास चुने हुए मनुष्य ही नहीं। दूसरी बातका उत्तर यह है, कि यद्यपि मुसलमानों अथवा अन्य शत्रुओं द्वारा मूर्तियों के अपमानित, खण्डित होनेका भय तो रहता है, किंतु इतने भयके निमित्तसे ही मूर्तिपूजा क्यों छोड़ दी जावे ? हम उन मूर्तियोंकी रक्षा के लिये अपनेमें आवश्यक बल क्यों न लावें ? क्या स्त्रियोंकी गुंडों-द्वारा बेइज्जती होनेके भयसे हमारा यह फर्ज है कि हम अपना विवाह ही न करें ? या कन्याओंका प्राणान्त कर दें ? कभी नहीं। ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो कि जूं पड़ जानेके भयसे कपड़ों का पहनना और अजीर्ण हो जानेके डरसे भोजन करना छोड़ दे। अतः स्वामीजीके ये दोनों विचार भी जैनियोंकी मूर्तिपूजाके सिद्धान्त को नहीं हिला सकते। इसलिये आपको ख्याल होना चाहिये कि जैनियोंकी मूर्तिपूजा केवल दिखावटी पाखण्ड नहीं है : जिसके कि भीतर पोल और अत्याचार छिपे हुए हैं। बल्कि उनका मूर्तिपूजन-विषयक-सिद्धान्त बड़ा मजबूत अटल और योग्य है। इस विषयमें अब विशेष लिखना आप लोगोंके लिये व्यर्थ समझता हूं। आप स्वयं अब इसका फैसला करें, कि इस मूर्तिपूजाके विषयमें जैनसिद्धान्त सच्चा है या स्वामीजीका अकारण लिखना ?

अब हम इस विषयको एक मनोहर कविता लिखकर इस विषयको समाप्त करते हैं—

जहांके काम वतलानेका सामां एक मूरत है।
ग़रज़ मतलब वरारीकी नहीं कोई और सूरत है ॥ १ ॥
शकल सूरत शबीःह तसवीर फोटो अक्स कुछ कह लो।
यह सारे नाम हैं उसके कि जिसका नाम मूरत है ॥ २ ॥
किताबोंमें यही मूरत अगर हरफोंकी सूरत है।
तो उक्लेदसमें यह लाइनकी और नुक्केकी मूरत है ॥ ३ ॥
कहीं ए,बी कहीं अ,आ कहीं पर अलिफ बे सारे।
यह समझानेके जरिये हैं यह वतलानेकी सूरत है ॥ ४ ॥
वेद इंजील और कुरआन गो कागजके टुकड़े हैं।
मगर एक धर्मका रस्ता वतानेकी तो सूरत है ॥ ५ ॥
जरा चलकर मदर्सेमें हिन्दका देखलो नकशा।
कहीं शहरोंका नुक्ता है कहीं दरियाकी सूरत है ॥ ६ ॥
नजर जिसदम पड़े साधू सती गणिकाके फोटो पर।
असर दिलपर वही होता है जैसी जिसकी सूरत है ॥ ७ ॥
जैनसाइन्समें इस्थापना निक्षेप कहते हैं।
इसी बुनियादपर जिनमन्दिरोंमें जिनकी मूरत है ॥ ८ ॥
देख लीजे ग़ौर करके यह मूरत शांत मूरत है।
यह इक वैरागता सम्वेगता शांतीकी मूरत है ॥ ९ ॥
रहनुमा जगहितैषीकी हमें ताजीम लाजिम है।
अदब ताजीम करनेकी यही तो एक मूरत है ॥ १० ॥
खिचे नहीं दायरा हरगिज़ विना नुक्केकी मूरतके।
ध्यानके दायरेके वास्ते भगवन्तकी मूरत है ॥ ११ ॥
शहन्शा जार्ज पंचम हिन्दमें तशरीफ जब लाये।
झुका दिया सर जहां मलका महाराणीकी मूरत है ॥ १२ ॥

अदवसे जाके बोसा देते हैं मक्केमदीनेमें ।
वहां असवदकी मूरत है यहां भगवतकी मूरत है ॥ १३ ॥

आर्यमन्दिरों भी शबीहं दयानन्द स्वामीकी ।
लगी है सरसे ऊपर यह अदब करनेकी सूरत है ॥ १४ ॥

सलामी फौज देती है झुका सर बोसा देते हैं ।
जहांपर तख़्तशाही या ताजशाहीकी मूरत है ॥ १५ ॥

लीडरोंके शहनशाहोंके राजोंके गवर्नरके ।
हजारों बुत बने हैं दर असल मिट्टीकी मूरत है ॥ १६ ॥

अदब करते हैं सब इनका कोई तौहीन कर देखे ।
सजा पाये अदालतसे गो बुत मिट्टीकी मूरत है ॥ १७ ॥

जुदागाना असर दिलपर हर इक मूरतका होता है ।
भला फिर किस तरह कहते हो यह नाकाम मूरत है ॥ १८ ॥

करें सिजदा अगर पत्थर समझ कर तब तो काफिर है ।
कुफर क्यों आएगा समझें अगर रहबरकी मूरत है ॥ १९ ॥

इसे मानो न मानो यह तो साहिब आपकी मरजी ।
'न्यायमत' कोई बतलादे कि क्यों नाकाम मूरत है ॥ २० ॥

मुक्ति-मीमांसा।

मुक्तिसे भी जीव लौटता है ?

(१२)

प्रेमी बान्धवो ! स्वामीजीने जैसे जैनधर्मके अन्य विषयोंकी समालोचना करनेमें शीघ्रता की है, उन बातोंकी तहपर न पहुंच कर निरंकुश रूपसे समीक्षा करके भूल की है, उसी प्रकार उन्होंने मुक्तिके विषयमें भी किया है। जैनधर्मने जो कुछ मुक्तिका स्वरूप बतलाया है, उसके कारण-कलापों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। हमको खेद है, कि स्वामीजी वहां तक नहीं पहुंच पाये, वे यदि वहां तक पहुंच गये होते तो हमको आशा नहीं है, कि वे फिर भी जैनसिद्धांतको असत्य कहते।

मुक्तिके विषयमें जैनधर्मका संक्षेपसे यह सिद्धांत है कि इस जीवके साथ जो अनादि समयसे कर्म लगे हुए हैं; जिन्हें अन्य कोई दर्शन प्रकृति, कोई अज्ञान, कोई माया आदि शब्दोंसे कहते हैं। वे कर्म तपस्यासे यानी शरीर, पुत्र, मित्र, कलत्र आदि पदार्थोंमें राग-द्वेष त्याग देनेसे, जिस समय आत्मासे सर्वथा अलग हो जाते हैं, उस समय आत्मा सौटंची सोनेके समान निर्मल होकर अपना अविनाशी अनंत सुख पा लेता है और सदाके लिये निर्मल हो जाता है। जिस प्रकार चांवलके ऊपर जब तक छिलका रहता है, तब तक उसमें उगनेकी ताकत रहती है; परंतु जिस समय उसके ऊपरसे छिलका उतर गया, कि बस ! उसी समयसे उसका उगना भी सदाके लिये मिट गया ठीक यही हालत जीवकी है, यानी-कर्मबंधन छूट जानेसे अब उसमें राग-द्वेष पैदा नहीं हो सकते हैं और राग-द्वेष न होनेसे कर्मबन्ध नहीं हो सकता है इस कारण कर्ममैलके हट जानेसे शुद्ध हुआ जीव फिर कभी बन्धनमें नहीं फँसता है। इसी कारण कर्मोंके द्वारा होनेवाला जन्म-मरण भी उस शुद्ध मुक्त जीवके सदाको छूट जाते हैं। कर्म एक विजातीय (जड़ जातीय) पदार्थ है इस कारण अनादि कालसे जीवके साथ लगा हुआ भी छूट

जाता है; जैसे कोई सोनेका टुकड़ा खानमें अनादि समयसे भी पत्थर, मैल आदिसे मिला पड़ा हो; किंतु वह तमाम मैल सुनारके द्वारा अलग हो जाता है, क्योंकि वह मैल उस सोनेकी निजी चीज नहीं है, मुक्त दशामें जीव शरीररहित (सूक्ष्म) होता है अतः वह न तो स्वयं दूसरे-को रुकावट डालता है और न किसी दूसरेसे रुकता है । मुक्तजीव कर्मबन्धनसे छूट जानेके कारण इस संसारमें न ठहरता हुआ लोकके ऊपर स्वभावसे पहुंच जाता है, उस स्थानका नाम सिद्धशिला वा सिद्ध स्थान है ।

स्वामीजीने जैनोंकी मानी हुई मुक्तिका ऐसा संक्षिप्त आशय भी हमारे अनुमानसे अच्छी तरह नहीं समझ पाया क्योंकि उन्होंने-बारहवें समुल्लासमें विना कुछ युक्ति दिए ही "ये जैनी भी मुक्तिके विषयमें भ्रममें फंसे हैं" यह लिख कर अपनी विजयका डङ्का अपने आप बजा कर प्रसन्न हुये हैं । अतः यद्यपि इस विषयमें हमें विशेष कुछ प्रतिवाद करनेकी आवश्यकता नहीं है किंतु फिर भी उन्होंने मुक्तिका स्वरूप समझनेमें भूल की है । अतः इस विषयमें कुछ शब्द लिख देना आवश्यक समझते हैं ।

मित्रो ! स्वामीजीने जो कुछ मुक्तिका ढांचा सत्यार्थप्रकाशमें प्रगट किया है वह ढांचा "तीन लोकसे मथुरा न्यारी" नामक कहावतको पकड़ता है, क्योंकि स्वामीजीने मुक्तिको कर्मोंका फल बता कर फिर वहांसे लौट कर जन्म-मरण पानेका उल्लेख किया है । उसे कोई भी दर्शन एवं वेद, उपनिषद् आदि स्वीकार नहीं करता है, इतना हो तो भी कुछ बात नहीं किंतु साथ ही वेदभाष्यमें स्वयं स्वामीजी भी अपनी इस बातको नहीं मंजूर करते हैं । हमको सबसे भारी खेद इस बातका है, कि मुक्तिको स्वामीजीने खाने-पीने सरीखी चीज और जेलखाना समझ लिया है; जैसा कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाशके नौवें समुल्लासमें २५५वें पृष्ठ पर लिखा है कि "कोई मनुष्य मीठा, मधुर ही खाता पीता जाय उसको वैसा सुख नहीं होता जैसा सब प्रकारके रसोंको भोगने-

वालेको होता है।" तथैव "इसलिये यही व्यवस्था ठीक है, मुक्तिमें जाना वहांसे पुनः आना ही अच्छा है, क्या थोड़ेसे कारागार (जेळ) से जन्म-कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फांसीको कोई अच्छा मानता है? जब वहांसे आना ही न हो तो जन्म—कारागारसे इतना ही अंतर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्ममें लय होना समुद्रमें डूब मरना है।"

प्रिय पाठको! आप यदि सच्चे हृदयसे विचार करें तो आपको मालूम होगा कि स्वामीजीकी ये दोनों बातें असत्य हैं क्योंकि सच्चे सुख की यह परिभाषा ही नहीं कि जिसके अनुभव करनेमें कभी आकुलता मालूम हो। जिस जगह आकुलता रहती है, वहां असली सुख नहीं होता है जैसा कि संसारी जीवोंके खाने-पीने आदिका सुख जिसको कि नकली सुख कह सकते हैं। यदि ऐसा ही नियम हो कि सुखके अनुभवमें तभी आनंद आता है जब कि बीचमें कुछ दुख मिल जाय, तो आप लोग ईश्वरको कभी पूर्ण सुखी नहीं कह सकते हैं क्योंकि उसका सुख कभी टूटता नहीं है। मिठाईका दृष्टांत विषम है क्योंकि मिठाई खानेमें सुख नहीं है इसका कारण यह है कि यदि मिठाई खानेसे सुख अवश्य मिले ही मिले, तो एक तो उसके खाते रहनेसे कभी चित्त उचटना नहीं चाहिये; क्योंकि सुखसे चित्त क्योंकर हटे। दूसरे वह मिठाई पेट भर खानेके पीछे या बुखारवाले मनुष्यको भी सुखकारी होना चाहिये किंतु ऐसा होता नहीं है इससे सिद्ध होता है कि मिठाई में असलियतमें सुख नहीं है। फिर भी न जानें इसकी तुलना मुक्ति-सुखके साथ कैसे कर बैठे। क्या स्वामीजीके इस कहनेसे यह सिद्ध नहीं होता है, कि ब्रह्मचारी मनुष्यको ब्रह्मचर्यका आनंद तभी आ सकता है जब कि वह बीच बीचमें वेश्याओंके मकानोंकी हवा भी खा आया करे। विचारो तो सही मित्र लोगो! स्वामीजी मुक्तिसुखका दृष्टांत देनेमें कितने भूले हैं।

उनकी दूसरी बातका समाधान यह है कि भाई साहिबान! मुक्ति

कोई जेलखाना नहीं है, जिससे कि सुख अनुभव करनेके लिये निकलना आवश्यक है। मुक्ति नाम तो वन्धनसे छूट कर स्वतंत्र होनेका है क्या स्वामीजीको यह वात भी मालूम नहीं थी, कि स्वतंत्र होनेमें आनन्द है या परवश होकर वन्धनमें पड़े रहनेमें ? जीव सांसारिक दशामें कर्मोंके वन्धनमें पड़कर जन्म-मरण आदिके दुःख सहते हैं जव यह वन्धन टूटकर अलग हो जाता है तव मुक्तिका सुख हमेशाके लिये मिल जाता है। इस वातको आप स्वयं स्वामीजीकी कलमसे ही लिखी हुई सत्यार्थप्रकाशके २५२वें पृष्ठपर देख लो वहां वे साफ लिखते हैं कि "जो शरीररहित मुक्ति जीवात्मा ब्रह्ममें रहता है उसको सांसारिक सुखका स्पर्श भी नहीं होता; किन्तु सदा आनंदमें रहता है।" दूसरे स्थान पर खुद स्वामीजी ही लिखते हैं कि "सव दोष दुख छूट कर परमेश्वरके गुण कर्मके स्वभावके सदृश (वरावर) पवित्र हो जाते हैं।" अव मित्रो! विचार करो कि मुक्तिमें जीव जव कि स्वामीजीके लिखे अनुसार सव दोष दुखोंसे छूटकर गुण कर्म स्वभावमें परमेश्वरके वरावर हो जाता है। फिर उसे जन्म तक जेलखानेका दृष्टांत कैसे मिल सकता है और उस मुक्त जीवका लौटना भी कैसे हो सकता है; क्योंकि जो जीव सव दोषोंसे छूट कर परमेश्वरके वरावर हो गया वह फिर क्यों वन्धनमें पड़े क्या छिलकेसे छूटा हुआ चांवल भी फिर उग सकता है ? यदि ऐसा ही हो तो परमेश्वरको भी वन्धनमें पड़ना जरूरी होगा; क्योंकि उसकी वरावरीका मुक्त जीव ऐसा करे तो क्या कारण कि वह ऐसा करनेके लिये वाध्य न हो ? स्वामीजी सर्वशक्तिमान्का वहाना लगा कर इस फंदेसे निकल नहीं सकते हैं; क्योंकि वे खुद लिख चुके हैं कि मुक्त जीवात्माके गुण स्वभाव परमेश्वरके वरावर हो जाते हैं। इसलिये स्वामीजीका लिखना स्वामीजीको वाधा देता है।

मुक्तिको जो स्वामीजीने कर्मोंका फल और वह ईश्वर द्वारा प्राप्त होना वतलाया है वह भी गलत है क्योंकि कर्मोंका फल संसारका सुख दुख मिलना ही हो सकता है जैसा कि हम अपने नेत्रद्वारा एकसे एक

बड़े सुखी और एकसे एक बड़े दुखी जीव देखते हैं। अतः कर्मोंका फल संसार ही है; मुक्ति नहीं हो सकती। उस मुक्तिको ईश्वर नहीं दे सकता है क्योंकि प्रथम तो निर्विकार, पवित्र ईश्वर जीवोंको सुख दुख देनेके जंजालसे सर्वथा दूर है, जैसा कि हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं। दूसरे जब कि जीवमें स्वयं मुक्ति पानेकी निजी ताकत नहीं तो ईश्वर भी उसे मुक्ति किस प्रकार दे सकता है क्योंकि जैसे बन्ध्या, स्त्रीमें संतान प्रसव करनेकी शक्ति नहीं तो बलवान पुरुषके संयोगसे भी वह गर्भिणी नहीं हो सकती है। जिस चांवलका छिलका हट गया है हजारों प्रयत्न करने पर भी वह नहीं उग सकता है।

इस कारण मुक्ति यानी स्वराज्य पानेकी ताकत जीवमें स्वयं होनी चाहिये उदाहरणके लिये अमेरिकाका स्वराज लेना है। हां, इतनी बात है, कि प्रारंभमें अपने पैरोंपर खड़े होनेके लिये ईश्वरका ध्यान, उपासना करना जरूरी है; इसके आगे नहीं। इस कारण मुक्तिका दाता ईश्वर नहीं है किंतु जीवका निजी बल ही उसका कारण है। जीवोंको उनके कर्मोंका फल स्वयं मिल जाता है, ईश्वर उसे नहीं देता है; यह बात हम पीछे सिद्ध कर चुके हैं क्या लोकमें किसी राजाकी आज्ञा पालना उपासनासे स्वराज्य मिल सकता है? नहीं, अपने पुरुषार्थसे ही प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सच्चे स्वराज्यको पानेके लिये स्वामीजी ईश्वरके ऊपर क्यों निर्भर रहे? इस कारण सिद्ध होता है, कि जीवको मुक्ति परमेश्वर नहीं देता है किंतु जीव उसे अपने पुरुषार्थसे स्वयं प्राप्त करता है।

इसके सिवाय स्वामीजीके पास मुक्तिसे लौटनेकी आवश्यकता सिद्ध करनेवाली दो ही शंकाएं रह जाती हैं एक तो यह कि यदि जीव मुक्त होकर लौटें, नहीं तो मुक्तिस्थानमें भीड़-भड़का हो जायगा और दूसरे यह कि किसी समय संसार खाली हो जायगा। प्यारे महाशयो! आप यदि कुछ समयके लिये सूक्ष्म विचार करें तो आपको मालूम पड़ेगा, कि ये शंकाएं भी निर्मल हैं क्योंकि भीड़-भड़का नहीं हो सकता

है, जहां कि हमारे तुम्हारे शरीर सरीखा भौतिक शरीर हो मुक्त जीवोंके शरीर ही जब नहीं होता; तब उन्हें एक स्थान पर ठहरनेमें बाधा भी कैसे हो सकती है ? क्या सारे संसारमें ठसाठस जड़-परमाणुओंके भरे रहने पर भी परमेश्वर, आकाश आदि अमूर्तिक अशरीर पदार्थ उसी जगहमें नहीं ठहरे हुए हैं ? इसी तरह हजारों लाखों भी मुक्त-जीव एक जगहमें रहें, इसमें क्या बाधा है ? स्वामीजी भीड़-भड़का होनेकी बात व्यर्थ लड़कों सरीखी बतलाते हैं।

दूसरी शंकाका उत्तर यह है कि जीव अनंत हैं। अनंत उस संख्याको कहते हैं कि जिसमें अनंतका गुण करनेसे भी गुणनफल अनन्त ही हो अनन्तका भाग देने पर भी भजनफल अनन्त आवे और अनन्त जोड़ देने पर भी अनन्त और अनन्त घटा देने पर भी शेषफल अनन्त रहे जैसे आकाशमें चाहे जिस दिशाको चलना शुरू किया जाय हजारों करोड़ों वर्ष बराबर चलते रहने पर भी आकाशका अन्त नहीं आ सकता है क्योंकि वह अनन्त है, ईश्वरके गुणोंका वर्णन करनेकेलिये मनुष्य हजारों लाखों वर्ष तक भी बराबर कार्य करते रहें; किंतु ईश्वरके गुण खतम (समाप्त) न हों क्योंकि वे अनन्त हैं, अरबों वर्ष तक विचार करने पर भी जैसे जीवोंकी मौजूदगीका या पिता-पुत्रकी परम्पराका अथवा बीज वृक्षकी परम्पराका शुरूआत (प्रारंभ) नहीं मालूम हो सकता है। दशमलवकी रीतिसे १ के अङ्कमेंसे $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{100}$ आदि संख्याओंको हजारों वर्ष तक घटाते रहने पर भी जैसा १ का अंक नहीं समाप्त हो सकता है आवर्तक दशमलवका भाग कभी पूरा ही नहीं होता है बस, इसी प्रकार सदा मुक्तिमें जाते रहने पर भी संसार खाली नहीं हो सकता क्योंकि वे जीव अनंत हैं। अनन्त शब्दका माने ही यह है, कि जिसका किसी प्रकार अन्त (आखीर) न हो सके। आज दिन आप स्वामीजीकी जन्मदात्री माताकी अथवा अपनी माताकी परम्पराको गिननेके लिये बैठिये, भविष्यकाल-सम्बन्धी माताओंको छोड़कर (क्योंकि गिननेके लिये आज बैठते हैं), केवल भूतकालीन मातृ-पर-

म्पराकी गणना कीजिये। स्वामीजीकी या आपकी माता आपकी नानी-से उत्पन्न हुई थी, वह नानी भी माताकी नानीसे और वह भी आपकी नानीकी नानीसे उत्पन्न हुई थी, इसप्रकार गिनते चले जाइये, जो गिनती में आ जावें उन्हें एक तरफ छोड़ दीजिये, इस प्रकार गिनते गिनते आप अपनी सारी आयु विता दें; उसके आगे आपके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि भी इसी गिनतीमें अपनी उम्रें खर्च कर दें, किंतु आपकी मातृ परम्परा पूर्ण नहीं हो पावेगी; क्योंकि वह अनन्त है, उसकी गणनाका अंत अनन्तकाल तक गिनते रहने पर भी नहीं आ सकता है, किंतु इस गणनासे परम्परा घटती अवश्य होती है। वस ! यही बात संसारवर्ती अनन्त जीवोंके लिये है। मुक्तिको जाते रहने पर संसारी जीवोंकी तादाद यद्यपि घटती है; किंतु वह कभी समाप्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह अनन्तरूप है। ईश्वरकी मौजूदगी अनन्तकाल तक माननेका स्वामीजी तथा आर्यसमाजी लोग यही अर्थ कर सकते हैं, कि अरबों वर्ष बीत जाने पर भी ईश्वरका खात्मा (समाप्ति) नहीं होगी और न आज तक अनंत वर्ष बीतनेसे ही ईश्वरका अभाव हुआ है। इस तरह अनंत समय निकल जाने पर भी जब ईश्वरके अनंत समयकी समाप्ति नहीं हुई, तब मोक्ष जाते रहने पर जीवोंकी अनंतता कैसे समाप्त हो सकती है! इस कारण स्वामीजीने जीवोंकी अनंत संख्या मानकर भी व्यर्थ ही संसार-के खाली होनेकी शंका उठाई और व्यर्थ ही मुक्तिमें पहुंच कर पुनः लौटनेका निराला सिद्धांत रचकर स्वयं भूल की और अपने अनुयायियों-को भूलमें डाला। इसलिये सिद्ध होता है, कि जैनसिद्धांतमें मानी हुई मुक्ति स्वामीजीकी किसी भी शंकासे खंडित नहीं हो सकती।

स्वामीजीने सभी उपनिषद् और छह दर्शन आदिको प्रमाण माना है, किंतु उन दर्शनों और उपनिषदोंसे मुक्तिसे लौटना विरुद्ध बैठता है। देखिये—मुण्डक उपनिषद् खं० २ मं० ८।

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ २॥

अर्थात् - अन्तरात्माका सच्चा दर्शन हो जाने पर हृदयकी समस्त गांठें कट जाती हैं, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं और इसके सभी कर्म क्षय हो जाते हैं ।

इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति कर्मोंके क्षय होनेसे मिलती है न कि कर्मोंके फलसे ; जैसा कि स्वामीजी मानते हैं । स्वामीजी इस श्लोकका अर्थ जो "दुष्टकर्म क्षय हो जाते हैं" ऐसा सत्यार्थप्रकाशके २६४ वें पेज पर करते हैं सो गलत है क्योंकि श्लोकमें "क्षीयंते चास्य कर्माणि" पद है "दुष्टकर्माणि" पद नहीं है । अतः उसका 'दुष्टकर्मों'का क्षय होना न होकर समस्त कर्मोंका क्षय होना ऐसा ही हो सकता है ।

प्रश्नोपनिषद्में यह लिखा है कि—

एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते ।

अर्थात्—उस मुक्तिसे फिर नहीं लौटते हैं ।

बृहदारण्यक देखिये—

तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ।

यानी—उस ब्रह्मलोकमें अर्थात् मोक्षमें अनन्तकाल तक रहते हैं वे (मुक्तजीव) वहांसे लौटते नहीं हैं ।

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।

(उपनिषद् छां० प्र० ८ खण्ड १५)

यानी—जीव मुक्तिसे फिर नहीं लौटता है ।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्ति श्रुतेः । अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥

(सांख्यदर्शन अ० ६ सूत्र १७-१८)

अर्थात्—मुक्तजीवके फिर बंध नहीं होता है क्योंकि श्रुतिमें यह कहा है कि जीव मुक्तिसे लौटता नहीं है । जीव यदि मुक्तिसे भी लौट आवे तो फिर मोक्षके लिये पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ हो जाय ।

व्यास विरचित शारीरिक सूत्र देखिये—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्ति शब्दात् ॥ ४।४।२२ ।

तात्पर्य—मुक्तिसे जीव लौटता नहीं है ।

इत्यादि और भी योगदर्शन आदि दर्शनोंमें मुक्तिसे लौटनेका साफ निषेध किया है। इसलिये स्वामीजी या तो वेदोंको और उसके उपनिषदोंको षट् दर्शनोंको प्रमाण मानकर मुक्तिसे लौटना नहीं मान सकते हैं अथवा वेद उपनिषद्, षट् दर्शनोंको सर्वथा छोड़ कर अपनी मुक्तिका सिद्धांत कायम रख सकते हैं।

स्वामीजीने मुक्तिसे लौटना सिद्ध करनेके वास्ते वेदकी ऋचाओंका तथा सांख्यदर्शनके एक सूत्रका अनर्थ कर दिखाया है जो कि एक सत्यव्रती परिव्राजकके लिये अयोग्य बात है ध्यान दीजिये—

सांख्यदर्शन साफ तौरसे मुक्तिसे लौटनेका निषेध करता है, यह हमने ऊपर बतला दिया है। उसी सांख्यदर्शनके प्रथम अध्यायमें १५६ वां सूत्र "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" जिसका कि अर्थ वेदान्त का खण्डन करते हुए ऐसा है कि "जैसे इस समय संसारका अनेक रूपसे नाश होकर एक ब्रह्म सिद्ध नहीं हुआ ऐसा किसी भी समय नहीं हो सकता है"। क्योंकि "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्" अर्थात्—जन्म, मरण, मुक्ति आदि व्यवस्थाओंसे पुरुष अनेक सिद्ध होते हैं। (एक ब्रह्म सिद्ध नहीं होता) इस सूत्रसे लेकर १० सूत्रोंमें अद्वैतका खण्डन किया है। इस बातको और स्वामीजीके कुलको गुरुकुलसे पढ़कर निकले हुए विद्यालंकार सांख्यदर्शनसे अच्छी तरह समझते होंगे। अतः स्वामीजीके लिखे अनुसार "इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" इस सांख्यसूत्रका अर्थ मुक्तिसे लौटना नहीं है।

इसके सिवाय ऋग्वेद प्रथममण्डल सूक्त २४ मंत्र १-२ से भी मुक्ति से लौटनेका अर्थ नहीं निकलता है। विचार कीजिये—

> कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम।
> को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरञ्च दृशेयं मातरंच ॥ १ ॥
>
> अग्नेर्नूनं प्रथमस्यामृतानामनामहे चारुदेवस्य नाम।
> मनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरंच दृशेयं मातरंच ॥ २ ॥

इन दोनों ऋचाओंका अर्थ ऐसा है "हम लोक देवताओंमेंसे किस देवताका नाम उच्चारण करें? कौनसा देवता हमको फिर भी बड़ी पृथिवीके लिये दे; जिससे हम पिता और माताओंको देखें? ॥ १ ॥ हम देवताओंमेंसे प्रथम ही अग्निका नाम उच्चारण करें, वह हमको बड़ी पृथिवीके लिये दे जिससे हम अपने माता पिताओंको देखें ॥ २ ॥

पाठक महाशयो! दोनों ऋचाओंमें मुक्तिका कहीं भी नाम नहीं आया है; किन्तु स्वामीजीने असत्यतासे छल करके "मुक्तिके सुख भुगाकर" इतना पद अपने पाससे जोड़ दिया और अन्य सूत्रोंके समान इसका अर्थ भी पलट दिया। ऐसा करना सचाई नहीं है, सच्चे पुरुषका कार्य नहीं है, फरेबी पुरुष ऐसा छल करके दूसरेको धोखेमें डालते हैं। इस कारण मुक्तिसे लौटना किसी भी शास्त्रसे सिद्ध नहीं होता है; बल्कि उसका निषेध प्रत्येक शास्त्रसे साफ प्रगट होता है।

अब कुछ नमूने स्वामीजीके हाथसे लिखे हुए ऐसे रखते हैं जिससे आप समझ लेंगे कि स्वामीजीने इस मुक्तिके प्रकरणमें "मेरी माता वन्ध्या है" इसके कहनेका साहस किया है, क्योंकि वे सत्यार्थप्रकाश-में मुक्तिसे लौटना लिखकर अन्यत्र कुछ और लिखते हैं। जैसे कि—

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका—पृष्ठ १८१।

"जैसे सोनेको अग्निमें तपाके निर्मल कर देते हैं वैसे ही आत्मा और मनको धर्माचरण और शुभगुणोंके रूपसे आचरण कर देना।"

यानी—मुक्तिके लिये तप द्वारा सौटंची सोनेके समान समस्त कर्ममलोंसे निर्मल बनाया जाता है।

१८७ वां पेज।

"अर्थात्-सब दोषोंसे छूटके परमानन्द मोक्षको प्राप्त होते हैं, जहां कि पूर्ण पुरुष सबमें भरपूर सबसे सूक्ष्म अर्थात् अविनाशी और जिसमें हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमपदको प्राप्त होके सदा आनन्दमें रहते हैं।"

पृष्ठ १९२।

"जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ-गुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बन्धनों और दुःखोंसे छूटके मुक्तिको प्राप्त होता है।"

"जब सब दोषोंसे अलग होके ज्ञानकी ओर आत्मा झुकता है तब कैवल्यमोक्ष धर्मके संसस्कारसे चित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीवको मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जबतक बन्धनके कामोंमें जीव फंसता जाता है, तबतक उसको मुक्ति प्राप्त होना असंभव हैं।"

स्वामीजीके इन लेखोंसे साफ सिद्ध होता है कि सब बन्धन दूर जाने पर ही मोक्ष होती है कर्मबन्धनके रहते हुए नहीं। फिर स्वामीजीने कर्मोंका फल मुक्ति प्राप्त होना और मुक्त जीवोंके, कर्मबन्धन क्यों माना ? इस शङ्काका उत्तर आप स्वर्गस्थ स्वामीजीसे पूछिये।

और भी यजुर्वेद अध्याय ३१ मन्त्र २ का स्वामीजीकृतभाष्य देखिये—

'हे मनुष्यो ! जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होनेवाला और जो पृथिवी आदिके संबन्धसे बढ़ता है, उस इस प्रत्यक्ष परोक्षरूप समस्त जगतको अविनाशी मोक्ष सुख कारणका अधिष्ठाता सत्य गुण कर्म, स्वभावोंसे परिपूर्ण परमात्मा हो सकता है।'

प्रिय सज्जनो ! इस मन्त्रके अर्थमें स्वामीजीने स्वयं अविनाशी सुख आदि विशेषण देकर परमात्मपद यानी मोक्ष होना लिखा है। अब यह बतलाइये कि स्वामीजीकी कौनसी बात सत्य समझी जाय। यदि इस वेदमन्त्रके अर्थको उपर्युक्त ऋग्वेदादि भाष्यभूमिकाको मानकर मुक्तिको अविनाशी माना जाय तो सत्यार्थप्रकाशका मुक्तिसे लौटना नामक मत गलत ठहरता है। यदि उसे सत्य मानते हैं तो ये तमाम, उपनिषद, दर्शन ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका तथा उपर्युक्त ऋग्वेदका मन्त्र असत्य बैठता है। आपके हृदयमें जैसा साहस हो वैसा कहकर एकको सत्य कहिये और दूसरेको असत्य; किंतु हैं दोनों स्वामीजीके लेख।

इस कारण आप इस लेखके पढनेका सच्चे हृदयसे तात्पर्य निकालिये कि मुक्तिका सिद्धांत जैनोंका अटल है, स्वामीजीका गलत है।

पुरुष सर्वज्ञाता हो सकता है।

१३

प्रियवर महोदयो ! जैनधर्म इस संसारमें दो प्रकारके पदार्थ मानता है ; एक जड़ और दूसरे चेतन (जीव)। जड़पदार्थ वे हैं जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नहीं पाये जाते हैं और चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें कि ज्ञानादि पाये जाते हैं। अतः देखना जानना जीवका स्वभाव है। जीवका यह स्वभाव संसारदशामें कर्मोंसे आच्छादित रहनेके कारण पूरे तौरसे प्रगट नहीं हो पाता है ; किंतु जिस समय कर्म आत्मासे बिलकुल अलग हो जाते हैं, उस समय ज्ञान पूरे तौरसे प्रगट हो जाता है। उस समय यह जीव सर्वज्ञ यानी सब पदार्थोंका जाननेवाला हो जाता है। जो जीव सब कर्मबंधनोंको तोड़कर मुक्त हो जाते हैं, वे समस्त लोक और तीनों कालकी बातोंको जाननेवाले होते हैं। इस विषयमें स्वामीजीने यह कहा है कि सर्वज्ञ तो केवल एक परमेश्वर है, जीवको सर्वज्ञ होना समझना भूल है। तदनुसार उन्होंने सत्यार्थप्रकाशके बारहवें समुल्लासमें ४४२ तथा ४५६वें पृष्ठ पर लिखा है कि "जो अल्प और अल्पज्ञ है, वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता ; क्योंकि जीवका स्वरूप एकदेशी और परिमित गुण-कर्म स्वभाववाला होता है, वह सब विद्याओंमें सब प्रकार यथार्थवक्ता नहीं हो सकता" तथा "जीव चाहे जैसा अपना ज्ञान, सामर्थ्य बढ़ावे तो भी उसमें परिमितज्ञान और ससीम सामर्थ्य रहेगा ईश्वरके समान कभी नहीं हो सकता। हां ! जितना सामर्थ्य बढ़ाना उचित है उतना योगसे बढ़ सकता है।" यद्यपि स्वामीजीने जीवके सर्वज्ञ न हो सकने में कोई बलवान् कारण नहीं बतलाया है, जिससे सर्वज्ञके विषयमें जैन-

धर्मका मन्तव्य तिल भर नहीं हिलता है किंतु फिर स्वामीजीकी इस भूलका हम सप्रमाण निराकरण करते हैं।

जीवमें ज्ञान-गुण विद्यमान है क्योंकि वह अन्य पदार्थोंको तथा अपनेको जानता है। इसी तरह जड़पदार्थ ज्ञानशून्य हैं, इसी कारण उनका स्वभाव अपनेको तथा दूसरेको जाननेका नहीं है। यह नियम है कि जो जिस पदार्थका स्वभाव होता है वह उससे कभी अलग नहीं हो सकता। जैसे अग्निका स्वभाव उष्णता (गर्मी) तदनुसार जीवसे उसका 'जानना' रूप स्वभाव कभी अलग नहीं हो सकता है। अब यहां पर विचारना यह है कि जीवका स्वभाव जब कि पदार्थोंको जाननेका है और पदार्थोंका स्वभाव ज्ञेय यानी ज्ञानद्वारा जाने जानेका है; तब जीवको सब पदार्थ एक साथ साफ क्यों नहीं जान पड़ते हैं? इस बातका विचारसे यह पता चलता है, कि ज्ञानके ऊपर कोई ऐसा परदा पड़ा हुआ है, जो कि ज्ञानको सब पदार्थोंके जाननेमें बाधा डालता है। जैसे कि मनुष्यके नेत्र निर्मल भी हों किन्तु रात्रिका गाढ़ा अंधेरा हो तो नेत्र उस समय अपने देखनेकी शक्तिको पूरे तौरसे काममें नहीं ले सकते हैं। यदि वही अंधेरा प्रातःकाल सरीखा कुछ कम हो यानी धुंधलापन हो तो उन्हीं नेत्रोंसे कुछ अधिक साफ दिखाई देने लगता है, सूर्यका प्रकाश हो जानेके समय बिलकुल साफ दीख पड़ता है। इसके सिवाय हम यह देखते हैं कि दो विद्यार्थी साथ साथ पढ़ना शुरू करते हैं वे दोनों ही खूब परिश्रम करते हैं किंतु उनमेंसे एक तो बहुत बड़ा विद्वान् हो जाता है और दूसरा मूर्ख रह जाता है; ऐसा क्यों हुआ ? जब कि इस बातकी खोज करते हैं, तब भी यही सिद्ध होता है कि ज्ञानको ढकनेवाला कोई पदार्थ अवश्य है जो कि एक विद्यार्थीके ज्ञानको अधिक दवाए हुए है और दूसरेके ज्ञानको कुछ कम। इस तरह जब कि संसारवर्त्ती जीवोंके ढकनेवाला कोई पदार्थ सिद्ध हुआ तो अब इसके विषयमें यह विचारना है कि, वह ज्ञानको रोकनेवाली चीज सजातीय (यानी जीवकी) है, या विजातीय

(जड़ पदार्थ)। सजातीय वस्तु किसी गुणको रोकती नहीं है, यह नियम है, जैसे अग्निका रूप आदि कोई गुण उसकी गर्मीको नहीं रोक सकता, उसको रुकावट डालनेवाला कोई विजातीय ठंडा पदार्थ ही हो सकता है। तदनुसार ज्ञानको रुकावट डालने वाला पदार्थ विजातीय जड़ ही हो सकता है, यह बात इस उदाहरणसे और मजबूत हो जाती है कि शराब जो कि जड़ पदार्थ है, पी लेने पर जीवके ज्ञानको बिगाड़ कर मंद कर देती है। इस कारण सारांश यह निकला कि संसारवर्ती जीवोंके ज्ञानको कोई जड़ पदार्थ रुकावट डालता है। उस पदार्थका नाम जैनधर्मने 'कर्म' रक्खा है। इसी ज्ञानरोधककर्मके अधिक हट जानेसे जीवका ज्ञान जरा अधिक प्रगट हो जाता है और थोड़ा हटनेसे थोड़ा प्रगट हो जाता है तथा पूरे तौरसे हट जाने पर सब पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान प्रगट हो सकता है। जैसे ग्रहणके समय सूर्यके नीचे केतु जो कि काला ग्रह है जब आ आजाता है (भूगोल सिद्धान्तसे सूर्य और पृथ्वीके बीचमें चन्द्रमाका आना) तब सूरजका प्रकाश बहुत ढक जाता है। यदि सूर्यके नीचे बादल आजांय तो कुछ ग्रहणको अपेक्षा कुछ कम सूर्यका प्रकाश ढकनेमें आता है और निर्मल आकाशके समय सूर्यका प्रकाश पूरे तौरसे प्रगट होता है।

अब यहां विचार यह करना है कि जो ज्ञानरोधक कर्म बीज वृक्ष सरीखी संतानकी अपेक्षा जीवके साथ अनादि कालसे लगा हुआ चला आया है वह कभी उसके ऊपरसे बिलकुल हट भी सकता है कि नहीं? इस शंकाका उत्तर हमें इस नियमके अनुसार तुरन्त मिल जाता है कि दूसरे पदार्थकी मिलावट (संयोग) योग्य मौका (अवसर) पाकर हट जाती है, वह मिलावट चाहे अनादि कालसे ही क्यों न हो? जैसे कि अनादिकालसे किसी खानमें पत्थरके साथ मिला हुआ सोनेका टुकड़ा पड़ा हुआ हो वह टुकड़ा यदि सुनारके हाथमें पहुंच जाय तो वह उस सोनेसे तमाम मैल मिट्टी पत्थर आदिको अलग करके सोनेको निखालिस बना देता है। न्यायके अनुसार यह प्रसिद्ध है, दो पदार्थोंका

सम्बन्ध संयोग कहलाता है जो कि नष्ट हो सकता है, और गुण गुणी-का सम्बन्ध समवाय कहलाता है जो कि कभी नष्ट नहीं होता। तदनुसार कर्म जड़ पदार्थ है उसका जीवके साथ सम्बन्ध है, अतः वह सम्बन्ध मौका पाकर यानी जिन राग, द्वेष आदि कारणोंसे कर्मोंका आत्माके साथ संयोग होता है उन कारणोंके न रहने पर टूट भी सकता है। इस तरह सज्जनो! ऊपर कही हुई सब बातोंका नतीजा यह निकलता है कि जीवका स्वभाव अपने ज्ञान गुण द्वारा पदार्थोंको जाननेका है, उस स्वभाव को पूरे तौरसे प्रगट होनेमें ज्ञानरोधक कर्म बाधा (रुकावट) डालता है, जिस समय वह कर्म आत्मासे अलग हो जाता है उस समय इसी आत्माका ज्ञान सूरजके समान समस्त पदार्थोंको एक साथ प्रगट करनेमें (यानी जाननेमें) समर्थ हो जाता है और फिर वह कभी कर्मसे नहीं ढक पाता है, क्योंकि कर्मके संयोग होनेके कारण राग, द्वेष आदि नहीं रह पाते हैं।

इस तरह भाइयो! जीवका परिमित ज्ञान भी कर्म हट जाने पर अपरिमित हो जाता है जिससे कि जीव सर्वज्ञ हो जाता है। जीवका ज्ञान परिमित ही रहे अपरिमित नहीं हो सके इस विषयमें हमें कोई भी युक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है, और स्वामीजीने ही इसके लिये कोई युक्ति दी है। जब कि हम यहां देखते हैं कि कोई एक विषयका विद्वान् है कोई अनेक विषयोंका विद्वान् है, कोई दुनियाकी समस्त भाषाओंका जानने वाला विद्वान् है, उससे हम इस नतीजे पर अवश्य पहुंचते हैं कि जीवके ज्ञानकी सीमा (हद) नहीं बांधी जा सकती है। क्योंकि हमारे पास या स्वामीजीके पास ही कोई ऐसा साधन नहीं जो कि जीवके ज्ञानकी सीमा कायम कर सके। इस तरह ज्ञान जब कि असीम है तो वह जीवका गुण होनेसे उसमें कभी प्रगट भी हो सकता है। इस तरहसे जैनधर्मने जो जीवको सर्वज्ञ होना बतलाया है वह असत्य नहीं है, स्वामीजी जो एक ईश्वरके सिवाय अन्य किसीको सर्वज्ञ होनेका निषेध करते हैं वह असत्य है। कौन ऐसा प्रबल कारण है

जो कि आत्माको निर्मल न होने देकर परमात्मा बनानेसे रोके ? इस विषयको शान्ति और ध्यानसे विचारिये।

इतना ही नहीं किन्तु स्वामीजीने जिन सांख्यदर्शन और योगदर्शनको प्रमाण माना है वे भी अल्पज्ञसे सर्वज्ञ होना साफ तौरसे स्वीकार करते हैं। देखिये सांख्यदर्शनके तीसरे अध्यायका ५६ वां सूत्र इस प्रकार है—

सहि सर्ववित् सर्वकर्ता

वह (प्रधान) सर्वज्ञ और सब करने वाला हो जाता है।

योगदर्शन अध्याय ३ सूत्र १६ तथा ४८

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। १६

यानी—तीन परिणामोंका समय हो जानेसे भूत भविष्यतका ज्ञान हो जाता है।

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४८ ॥

तात्पर्य—सत्वपुरुषकी अन्यताख्यातिके सम्पूर्ण पदार्थोंका अधिष्ठातापन और सर्वज्ञता हो जाती है। यानी पूर्ण भेद विज्ञान होनेसे सर्वज्ञता प्रगट होती है।

अब कुछ उन उदाहरणोंपर भी निगाह डालिये जिनमें कि स्वामीजीने अल्पज्ञ जीवको ईश्वर तुल्य सर्वज्ञाता भी लिख दिया है।

सत्यार्थप्रकाश ७ वां समुल्लास १९६ पृष्ठ

"वैसे परमेश्वरसे समीप प्राप्त होनेसे सब दोष दुःख छूटकर परमेश्वरके गुण, कर्म, स्वभावके सदृश जीवात्माके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।"

स्वामीजीने इस अपने लेखसे क्या यह सिद्ध नहीं कर दिखाया कि जीवात्माका ज्ञानगुण परमात्माके ज्ञानगुण सरीखा हो जाता है ?

इसके आगे नवमें समुल्लासमें और भी स्पष्ट लिखते हैं कि "मुक्तिमें जीवात्मा निर्मल होनेसे पूर्णज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों-

का भान यथावत् होता है।" यहां पर स्वामीजी खुलासा तौरसे जीवात्माको मुक्तिमें ईश्वर समान पूर्णज्ञानी यानी सर्वज्ञानी लिखते हैं और जैनधर्मकी समालोचना करते समय मुक्ति अवस्थामें इसी सर्वज्ञताकी सत्ता मेटनेका अति साहस करते हैं, क्या इससे यह मालूम नहीं पड़ता है कि स्वामीजी बारहवां समुल्लास सोते २ लिख गये हैं? विचार कीजिये।

भूगोल विषयमें भ्रान्ति।

जैनधर्मका कहना अटल है?

१४

प्रिय बन्धुओ! आधुनिक उपलब्ध ग्रन्थोंमें वेद यद्यपि सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं किन्तु स्वामीजीने उनका भाष्य बना कर उनका रंग ढंग ऐसा बना दिया है कि उसमें प्राचीन साहित्यकी झलक सर्वथा उड़ गई है। जो बातें पहले जमानेमें मौजूद नहीं थी स्वामीजीने इस जमानेमें प्रचलित उन बातोंको वेदोंमें घुसेड़ कर प्राचीन छटापर पानी फेर दिया है। यह बात सभी किसीको मालूम है कि टेलीफोन, टेलीग्राफ मोटर, रेलगाड़ी आदि पदार्थोंका भाव, गैस तथा बिजली आदिसे चलाकर काम लेनेका अविष्कार पहले जमानेमें नहीं हुआ था, इनका अविष्कार यूरोपीय विद्वानोंने अभी किया है, प्रशंसनीय परिश्रमसे उन्होंने जड़ तत्वकी असीम शक्तियोंका विकाश संसारके सामने कर दिखाया है, यद्यपि वायुयान तथा जलजहाज पहले जमानेसे भी थे, किंतु वे भाव बिजली, गैस, आदिके बलसे नहीं चलते थे, मन्त्र तथा यंत्रबलकी सहायतासे कार्य करते थे इन बातोंकी साक्षी इतिहास देता है। टेलीग्राफ आदि अर्वाचीन अविष्कार हैं ऐसा माननेसे हमारे प्राचीन ऋषियोंका कोई महत्व नहीं घटता है, क्योंकि उनके प्रखर बुद्धिबलका उदाहरण उनके आध्यात्मिक अविष्कार हैं, जिनको कि विदेशीय विद्वानोंने अभी

तक भी नहीं पाया है। अतः हम क्यों न निर्भय हो कर कहें कि ये जड़ पदार्थों के अविष्कार अभी यूरोपवासियोंने किये हैं। स्वामीजीने इस प्रकार सत्य पक्ष पर खड़े रहकर वेदोंकी टीका नहीं की। ऋग्वेदभाष्यका २११६वां पृष्ठ निकाल कर देखिये, उन्होंने मूलवेदके अभिप्रायकी कुछ परवा न करके वहां टेलीग्राफ विद्या घुसेड़ दी है। यह उन्होंने आधुनिक चटक मटक देखकर इंग्रेजी पढ़े लिखे वालोंको वेदों द्वारा भ्रान्त करनेके लिये किया। यही हाल उन्होंने भूगोलसिद्धांतके विषयमें भी किया है। उन्होंने आधुनिक भूगोलसिद्धांतमें पृथ्वीको ८ हजार मील व्यासवाली गेंदके समान गोल स्थिर सूर्यके चारों ओर घूमती हुई देख कर वेदोंमें ऊटपटाङ्ग तौरसे जबर्दस्ती "अयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः पितरं च प्रयत्स्वः" यजुर्वेद अध्याय ३ मन्त्र ६। इस मन्त्रके 'गौः' शब्द का पृथिवी अर्थ करके यूरोपवासियोंका आधुनिक सिद्धांत रख दिया है। दूसरेकी नकल कर उसका सिद्धांत अपनेमें मिला लेना निर्बलता है और अपने प्रभावको कलंकित करनेवाली भूल है। अतः हम इसे स्वामीजीकी भूल और निर्बलता ही कहेंगे जो कि उन्होंने जगह जगह वेदोंके असली प्राचीन सिद्धांतको छिपानेका प्रयत्न किया है।

स्वामीजीने जैनसिद्धान्तमें पृथ्वीको स्थिर और बहुत विस्तारवाली देखकर जैनधर्मकी पोल समझी है और उसकी हंसी उड़ाकर सत्यार्थ-प्रकाशको दोषी ठहराया है स्वामीजी बारहवें समुल्लासमें ४५२वें पृष्ठ पर यों लिखते हैं कि—"सुनो भाई भूगोल विद्याके जाननेवाले लोगों! भूगोलका परिमाण करनेमें तुम भूले वा जैन। जो जैन भूल गये हों तो तुम उन्हें समझाओ और जो तुम भूले हो तो उनसे समझ लेओ। थोड़ासा विचार कर देखो तो यही निश्चय होता है कि जैनियोंके आचार्य और शिष्योंने भूगोल खगोल और गणित विद्या कुछ भी नहीं पढ़ी थी, पढ़े होते तो महाअसंभव गपोड़ा क्यों मारते।" यद्यपि स्वामीजी ऐसा लिख तो गये हैं किन्तु इसका पार पाड़ना उनके लिये कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। जैनधर्मने एक भूगोलके विषयमें ही क्यों;

प्रत्येक विषयमें जो कुछ भी सिद्धान्त प्रगट किये हैं वे सिद्धान्त उसके स्वतन्त्र निजी सर्वथा अकाट्य हैं इसका हम जैनोंको पूरा अभिमान है और उनका यह अभिमान निष्पक्ष विचारशाली बुद्धिमानोंको उपयोग लगाकर स्वीकार भी करना चाहिये।

भूगोलके विषयमें यद्यपि आधुनिक प्रचलित भूगोल, भूभ्रमणके सिद्धान्त जैनधर्मको बाधा खड़ी करता हैं किन्तु वह बाधा क्षणस्थायिनी है सदा ठहरनेवाली नहीं है। अब वह समय भी समीप दीखता है जब कि यह सिद्धान्त उलट पलट हो जायगा। स्वामीजी यदि भूगोलके विषयमें यूरोपीय विद्वानोंके सिद्धान्तोंको देखते तो उन्हें मालूम होता कि अभी वे लोग इस विषयमें सफलताके रास्तेमें हैं भूगोल विषयक पूर्ण सफलता अभी नहीं पा सके हैं। जिसका उदाहरण यह है कि कोई यूरोपवासी विद्वान् यदि सूर्यको स्थिर कहता है तो कोई उसी सूर्यको लिरा नामक तारेकी ओर प्रति घंटे बीस हजार मील दौड़ता हुआ लिखता है। कोई सूर्यको पृथ्वीसे तेरहलाख गुना और कोई पन्द्रहलाख गुना बतलाता है। भूगोलके सिद्धान्तको अभी कुछ दिन पहले उत्तरीध्रुवका पता लगानेवाले कैनेडाके एक विद्वान्ने यह पता लगाया कि उत्तरीध्रुवमें जो १३ मील गहरा गड्ढा माना जाता है वह गलत है क्योंकि वहांपर उसे चौरस पृथ्वी मिली। इत्यादि। इन बातोंसे हमको भूगोल भूभ्रमणका सिद्धान्त निश्चित और ठीक मान लेना अनुचित है। सिद्धान्त निश्चित वही कहा जा सकता है जो कि फिर कभी हिले चले नहीं।

देखिये ! २१ मईके इङ्गलिशमेनमें मिष्टर डबलु एंडगिल नामक प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताने प्रकाशित किया है कि पृथ्वी थालीके समान गोल और स्थिर है, नारंगीके समान गोल व घूमती नहीं है। ये विद्वान् वेस्ट मिनिस्टर गजट नामक पत्रमें सर फ्रांक हाइसन् नामक प्रख्यात ज्योतिर्विद्वानके सामने अपना मत प्रगट करनेके लिये गवर्नमेण्टसे

सहायता प्राप्त होनेके लिये प्रयत्न करते हैं। इस विषयका निर्णय करनेके लिये भूगोलवेत्ताओंका एक अन्तर्जातिक अधिवेशन होनेवाला है।

महाशयो! क्या इन सब उदाहरणोंसे यह निश्चय नहीं होता है कि पृथ्वीके घूमने और गेंद समान गोल होनेका सिद्धान्त स्थिर नहीं है ऐसी अवस्थामें जैनधर्मके भूसिद्धान्तको असत्य कह डालना भूल है। फिर भी जैनविद्वान् भूगोलके सिद्धान्तोंको युक्ति पूर्वक खंडित करनेके लिये समर्थ हैं। इस विषयमें अलीगढ़ निवासी श्रीमान् पं० प्यारेलाल-जी पाटनी मन्त्री भूज्योतिषचक्रविवेचिनी सभाने अच्छी सफलता भी पाई है। जो आर्य विद्वान भूगोलके सिद्धान्तोंका खंडन जानना चाहें वे उक्त महाशयसे समझ सकते हैं। किन्तु स्वामीजीको वेदमन्त्रों द्वारा तथा उन्हींकी कलमसे लिखे हुए भाष्य द्वारा उन्हें इस विषयमें असत्य साबित करता हूं।

देखिये यजुर्वेद ३२ वां अध्याय मन्त्र ६

येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा ये स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवा हविषा विधेम॥

भावार्थ—विद्युल्लोक उग्र और पृथ्वी निश्चल तथा स्वर्ग स्तम्भित किया है जो आकाशमें वृष्टिरूप जलका निर्माता है उस प्रजापतिको हवि देते हैं।

इस मन्त्रमें पृथ्वीको स्पष्ट तौरसे दृढ यानी स्थिर बतलाया है।

ऋग्वेद अष्टक २ अध्याय १ वर्ग ५—

सूर्यो हि प्रतिदिनं एकोनषष्ठ्याधिक पंचसहस्रयोजनानि
मेरुं प्रादक्षिण्येन परिभ्राम्यतीत्यादि।

भावार्थ—सूर्य प्रतिदिन ५०५९ योजन मेरुकी प्रदक्षिणा करके भ्रमण करता है। इत्यादि—

ऋग्वेद अ० २ अ० ५ व० २ में स्पष्ट लिखा है—

अचरंतौ अविचले द्वे एवैते द्यावापृथिव्यौ। इत्यादि।

अर्थात् अचर और अचल दो ही पदार्थ हैं, आकाश और पृथ्वी। इत्यादि।

क्या वेदोंके इन प्रमाणोंको देखकर भी वेदानुयायी जनसमुदाय पृथ्वीको घूमती हुई और सूर्यको स्थिर कह सकता है? आश्चर्य और खेद है कि जिन वेदोंसे भूगोलके सिद्धान्तोंका खंडन होता है, उन्हीं वेदोंको स्वामीजीने तोड़-मरोड़ कर भूगोल सिद्धान्तोंके सहमत खड़ा कर दिया।

यजुर्वेद अध्याय ३२, मन्त्र ७।

यं क्रन्दसी अवसास्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधिसूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इस मंत्रमें सूर्यको चलनेवाला बतलाया है।

यजुर्वेद अध्याय ३३ मंत्र ४३-४४।

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति रथेन पश्यन्॥
प्रवावृजे सुप्रया बर्हिरेषामाविश्पतीव बीरिट इयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहुतौ वायुःपूषास्वस्तये नियुत्वान्॥

अर्थात्—सूर्य सोनेके रथद्वारा चलता हुआ, देव और मनुष्योंको उनके कामोंमें लगाता हुआ, रात्रिके साथ सब भुवनोंको देखता हुआ, गमन करता है ॥४३॥ वायु और सूर्य सुन्दर तरहसे शीघ्र वेगसे चलते हैं ॥ ४४ ॥

यजुर्वेद चौदहवें अध्यायका पहला मन्त्र भी पृथ्वीको स्थिर लिखता है; किन्तु खेद है, कि स्वामीजीने इसके अर्थमें इस बातको गन्ध भी नहीं छोड़ी। अस्तु। स्वामीजीका वेदभाष्य भी जरा देखिये—

१६८४वें पृष्ठ पर यजुर्वेद भाष्यमें १६वें अध्यायका ५५-५६वां मन्त्र।

हे मनुष्यो! हम लोग जो इस व्यापकता आदि बड़े बड़े गुणोंसे युक्त बहुत जलोंवाले समुद्रके समान अगाध, सबके बीच आकाशमें वर्तमान जीव और वायु हैं उनको उपयोगमें लाके असंख्यात चार कोस

के योजनोंवाले देशमें धनुषों वा अन्नादि धान्योंका अधिकताके साथ विस्तार करें, वैसे तुम भी करो।

हे मनुष्यो! हम लोग जो कंठमें नीलवर्णसे युक्त तीक्ष्ण वा श्वेतकंठवाले सूर्यको बिजली जैसे, वैसे जीव वायु हैं उनके उपयोगसे असंख्य योजनवाले देशमें शस्त्रादिको विस्तार करें, वैसे तुम लोग भी करो।

पाठक महाशयो! स्वामीजीने भूगोलसिद्धान्तमें पृथ्वीका व्यास पूर्वसे पश्चिम और उत्तरसे दक्षिण तक लगभग आठ हजार मीलका देखकर जैनसिद्धान्तमें बतलाये हुए एक लाख योजनवाले जम्बूद्वीप आदि विवरण पढ़कर जैनआचार्योंको भूगोल-विद्याका अजानकार बतलाया, किंतु उन्हें वेदभाष्य लिखते समय ऐसी घोरनिद्रा आ गई कि देशका परिमाण करोड़ों अरबों, संखों योजनोंसे भी बाहर मानो जिसको मनुष्य गणितसे गिन न सके ऐसा असंख्यात योजन लिख डाला। क्या स्वामीजी अपने इस लेखसे अपनेको भूगोल-विद्याका जानकार सिद्ध कर सकते हैं? खेद है, कि स्वामीजीने भूगोल-विषय सम्बन्धी आक्षेप जैनधर्म पर करते हुए अपनी मोटी भूलको नहीं देखा। अतः महाशयो स्वामीजी स्वयं अपने मुखसे झूठे ठहरते हैं।

इस कारण कहना पड़ेगा कि स्वामीजी इस विषयमें भी बहुत भूले हैं। युरोपीय विद्वानोंने भूगोलके विषयमें जो कुछ भी सिद्धांत बनाये हैं, वे सब अनुमान (अन्दाज) लगाकर ही तयार किये हैं; प्रत्यक्ष देख-कर बनाया हुआ उनका कोई भी सिद्धांत नहीं है। यद्यपि अनुमान सत्य भी होता है किंतु हेत्वाभाससे उसके असत्य हो जानेमें भी (अनुमानाभास) बाधा नहीं आती। भूगोलमें जो दक्षिणीध्रुव माना है वहां तक कोई विद्वान् नहीं पहुंच पाया है। उत्तरी ध्रुव पर जो खोजी विद्वान् पहुंचे हैं, उन्हें बराबर जहां तक वे जा सके सपाट पृथ्वी मिली है, आगे भी उन्होंने सपाट पृथ्वीका तथा मनुष्य आदिका अन्त नहीं बतलाया है, फिर भूगोल और भूभ्रमणका सिद्धान्त अनिश्चित ही क्यों न कहा

जावे। कालान्तरमें जब पृथ्वी स्थिर और सूर्य चलायमान सिद्ध होगा तब वेदभाष्य स्वामीजीकी अनुचित अनिष्ट कृतिपर दुःख प्रकाशित करेगा।

तीर्थंकरोंके विशालकायसे स्वामीजीको आश्चर्य क्यों हुआ?

(१५)

मान्यवर महाशयो! स्वामीजीने जैनधर्मकी समालोचना करते समय जैनधर्मके अनेक विषयोंको आजकलके जमानेसे मिलाकर असत्य ठहराना चाहा है, उनमेंसे कुछ विषयोंका खुलासा पीछे किया जा चुका है; अब यहांपर स्वामीजीने जो तीर्थङ्करोंकी शरीरकी उंचाई और आयुका परिमाण विशाल देखकर उसकी असंभवता दिखाते हुए सत्यार्थप्रकाशके ४८६वें पृष्ठपर यह लिखा है कि "इसमें बुद्धिमान् लोग विचार लेवें कि इतने बड़े शरीर और आयु मनुष्यदेहका होना कभी संभव है? इस भूगोलमें बहुत ही थोड़े मनुष्य बस सकते हैं।" इसकी परीक्षा करते हैं।

स्वामीजीने जो कुछ जमाना देखा है वह केवल ५०-६० वर्ष पहलेका ही जमाना उसे देखकर प्राचीन जमानेको भी उसीके साथ मिलाना चाहा है। किंतु यह उनकी भूल है क्योंकि प्राचीन समयकी बातें आज आश्चर्यरूपमें दीखती हैं जैसे कि कुछ शताब्दियों पहले लोग दो मन भारी लोहेका कवच पहनकर युद्ध करने जाते थे, हम्मीरटीपू सुलतान आदि वीर मनों भारी वजनकी गदा तलवार आदिको हाथमें लेकर युद्ध करते थे, भीमसेन युद्धमें हाथियोंको उठा उठाकर फेंक देते थे। अभी २८-३० वर्ष पहले ही लाहौर जिलेमें चम्रां गांवका रहनेवाले हिरा-सिंह नामक पहलवान २७ मन भारी मुद्गर घुमाता था और इसी

जिलेके चलटोहे गांवका रहने वाला फत्तेसिंह नामक सिक्ख १०० मन तक भारी अरहट (रेंट) को उठा लेता था । इत्यादि । हम यदि आजकलके नाजुक निर्बलशरीरोंको देखकर उपर्युक्त बातोंपर विचार करें तो वे असंभव सरीखी दीखने लगती हैं, किन्तु हैं वे सब सत्य ।

प्राचीन समयके मनुष्योंमें जब कि शरीरबल बहुत होता था जो कि आगे आगेके ज़मानेमें बराबर घटता चला आया है और घटनेका मार्ग आगे और भी अधिक चलता जायगा । तदनुसार उन पुरातनकालमें शरीरकी उंचाई (कद) भी बहुत ऊंची होती थी जो कि आजकलके मनुष्योंमें असंभव जंचने लगती है जैसा कि स्वामीजीको जंचा है । स्वामीजीके कथनानुसार आजकलके मनुष्योंके समान पुराने समयमें भी शरीरका कद ४-५ फुट ऊंचा होना चाहिये; किन्तु ऐसा अनुमान लगाना पुरातन समयके इतिहास खोजनेमें भारी भूलना है क्योंकि हमको आजकल भी मनुष्योंके साधारण कदसे दूने ऊंचे कदवाले मनुष्य दीख पड़ते हैं जैसे कि हमने स्वयं बम्बई देखले सर्कशमें ६ फुट ऊंचा एक मनुष्य देखा था । जबकि आजकल ही दूने कदके मनुष्य मिल जाते हैं, तब फिर प्राचीन समयमें बहुत ऊंचे शरीरवाले मनुष्योंका होना क्यों असंभव है ? । १८ सितम्बर सन १८६२के गुजरातमित्रके ३० वें अङ्कमें अस्थिपंजरोंका वर्णन करते हुए प्रकाशित हुआ है कि कीनटोलोकस नामक राक्षस साढ़े पन्द्रह १५॥ फुट ऊंचा था, फरटीस नामक मनुष्य २८ फुट ऊंचा था, मुलतान शहरमें बोरदरवाजेके भीतर एक ६ गजकी कब्र अभी तक विद्यमान है जो कि साफ बतलाती है कि उस कब्रवाला पुरुष ६ गज यानी १८ हाथ ऊंचा था । विलायतके किसी एक अजायबघरमें डेढ फुट लम्बा-मनुष्यका एक दांत रक्खा हुआ है । विचारिये, जिसका वह दांत है, वह मनुष्य कितना बड़ा होगा ? १२ नवम्बर सन १८६३ के गुजराती पत्रमें हंगरीमें मिले हुए एक राक्षसी कदके मेंढकके हाड़पंजरका समाचार यों छपा है कि इस मेंढककी दोनों आंखोंमें १८ इंच यानी डेढ फुटका अन्तर है (जब कि आजकल लग-

भग एक इंचके होता है) उसकी खोपड़ी ३१२ रत्तल भारी है और हाड़ोंके पंजरका वजन १८६० रत्तल है। स्वामीजी यदि इन समाचारों को पढ़ लेते तो जैनग्रन्थोंमें बतलाई गई तीर्थङ्करोंके शरीरकी ऊंचाई पर तथा अन्य जीवोंकी अवगाहना पर आश्चर्य प्रगट कर असंभवताका आक्षेप न लगाते। क्योंकि ये अस्थिपंजर तो कुछ हजार वर्ष पहलेके ही हैं। जैन तीर्थङ्करोंको हुए तो आज लाखों करोड़ों वर्ष बीत गये, वे अनुमानसे भी कितने अधिक ऊंचे होने चाहिये, इसका अनुमान आप लोगोंको उपर्युक्त उदाहरणोंसे लगा लेना चाहिये। आयुका प्रमाण आजकलकी अपेक्षा पुरातन समयमें बहुत अधिक था क्योंकि उनके शरीरमें शक्ति बहुत होती थी निर्बलताके कारण ही मनुष्य आजकल प्रायः ४०-५० वर्ष तक भी कठिनतासे पहुंच पाते हैं, जब कि कुछ समय पहले मनुष्य प्रायः ९०-१०० वर्षके होकर ही मरते थे। इससे सिद्ध होता है; कि पुरातनकालमें आयुका प्रमाण भी आजकलकी अपेक्षा बहुत अधिक था, जो शरीरकी ऊंचाई तथा बलके साथ साथ बराबर दिनोंदिन घटता चला आया है और घटता चला जा रहा है। अतः स्वामीजीका इस विषयमें आश्चर्य प्रगट करके असंभवता दिखलाना भारी ऐतिहासिक भूल है।

रही उनके लिये रहनेके स्थानकी बात, सो यह भी मोटे तरहसे देखने पर असंभव दिखने लगता है कि सैकड़ों हाथ ऊंचे शरीर वाले मनुष्य इस भारतवर्षमें कुछ एक ही रहने पाते होंगे। क्योंकि आप जब कि बम्बईकी भूमिको नापकर उसमें १३ लाख मनुष्योंका रहना तथा लंदनकी भूमिका वर्गफल निकाल कर उसमें ५६-५७ लाख मनुष्योंका रहना एवं न्यूयार्क नगरके भूविस्तारको देखकर उसमें रहनेवाले ६० लाख मनुष्योंका विचारकर गणित लगावेंगे तो आपको मालूम होगा कि प्रत्येक मनुष्यके भागमें मुश्किलसे ५ वर्गफुट भूमि भी नहीं आती है, फिर भी वे सभी मनुष्य उन नगरों[illegible] रहते हैं, सोते हैं, उठते-बैठते हैं। ५ वर्गफुट भू[illegible] आता है।" हम इस

आती है ? जब कि यह शंका उठेगी तो उसके उत्तरमें यह बात कही जायगी कि इन नगरोंके मकानात बहुत ऊंचे अनेक खंडोंके (खनोंके, मालेके) हैं। पांच खंडसे लेकर ६० खण्डों तकके मकान इन नगरोंमें हैं। न्यूयार्कमें डलवर्थबिल्डिंग ६० खनकी है। इस कारण भूमि का विस्तार थोड़ा रहने पर भी वहां सब लोग खूब अच्छी तरह निवास करते हैं। जब कि आजकल ऐसी व्यवस्थासे स्वामीजी गणित द्वारा इन नगर-निवासियोंके स्थानकी असंभवता मिटा सकते हैं, तो प्राचीन समयमें एक एक मकानके ८४-८४ खण्ड होते जानकर उतने ऊंचे शरीरवालोंके लिये रहनेका प्रबन्ध इसी भूगोलपर क्यों नहीं कर सकते हैं। इसके सिवाय—

पहले समयमें भूमिका विस्तार भी आजकलकी अपेक्षा अधिक था भूकम्प आदिसे बहुत भूमि जलमग्न होकर कम होगई है। इसके सिवाय वर्तमानमें प्राचीन समयसे जनसंख्या भी बढ़ गई है और बराबर बढ़ती जा रही है। अतः स्वामीजीको प्राचीनकालके ऊंची अवगाहनावाले मनुष्योंके लिए रहनेके स्थान-विषयक शंका न्यूयार्क नगरका स्थान, उसके निवासियोंकी संख्या देखकर दूर कर लेना चाहिए।

इस प्रकार इस विषयका आक्षेप जैनधर्मके ऊपर करनेमें भी स्वामीजी बहुत भूले हैं।

सप्तभङ्गीमें समझ-भंङ्ग ।

(१६)

माननीयवर मित्रो ! जैनदर्शन किसी भी पदार्थका स्वरूप एकांतरूपसे न कहकर अनेकांतकी शैलीसे बतलाता है, जो कि वास्तवमें परीक्षाके समय यथार्थ ठहरता है। अन्य दर्शन पदार्थका स्वरूप बतलानेमें एकांत-पक्ष पकड़ते हैं कि पदार्थ नित्य ही हैं या अनित्य ही हैं; आदि । उसी स्वरूपके कहनेमें जैनदर्शन कहता है कि नहीं; पदार्थकी सत्ता मूलरूप से कभी मिट नहीं सकती । इस अपेक्षासे वह नित्य है किंतु उसकी हालतें सदा एक सरीखी नहीं रहती हैं; बदलती रहती हैं इस अपेक्षासे पदार्थ अनित्य भी है । वह सर्वथा नित्य ही हो तो ठीक नहीं; क्योंकि उसकी हालतें बराबर पलटती हुई दीखती हैं तथा वह सर्वथा अनित्य ही हो तो भी ठीक नहीं क्योंकि उसके जो मूलगुण हैं वे सदा कायम रहते, दृष्टिगोचर होते हैं। जैनधर्मके इस प्रकार कथन करनेको स्याद्वाद अनेकांतवाद, सप्तभङ्गी, नयवाद आदि शब्दोंसे कहते हैं। सप्तभङ्गी इनका नाम इसलिये है कि इस अनेकांतरूप कथनमें सात भङ्ग (प्रकार) होते हैं। पदार्थका स्वरूप यथार्थरीतिसे बतलानेका यह सप्तभङ्गी ऐसा अच्छा मार्ग है कि जिसमें पदार्थ पूर्ण तौरसे समझमें उतर आता है। आप लोग यदि सप्तभङ्गीको समझ लेनेका कष्ट उठावेंगे तो आप अपने मुखसे स्वयं कहेंगे कि पदार्थकी असलियत पूरी तौरसे सप्तभङ्गी द्वारा ही कही जा सकती है । हमको खेद सहित लिखना पड़ता है कि इसी सप्तभङ्गीको पूरे तौरसे समझनेके लिये स्वामीजीको मौका न मिल पाया हमको आशा है कि स्वामीजी यदि इस सप्तभङ्गीको अच्छी तरह समझ लेते तो वे सत्यार्थप्रकाशके ४४०वें पृष्ठ पर यह कभी न लिखते कि "यह कथन अन्योन्याभावमें साधर्म्य और वैधर्म्यमें चरितार्थ हो सकता है। इस सरल प्रकरणको छोड़कर कठिन जाल रचना केवल अज्ञानियोंके लिये फंसानेको होता है।" हम इस

विषयको यहां विशेष न बढ़ा कर क्योंकि सप्तभंगीका पूर्ण खुलासा जरा बड़ा स्थान चाहता है, इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि सप्तभंगी मूर्खोंको फँसानेका तो जाल नहीं है किंतु बड़े बड़े बुद्धिमानों को फँसानेका गहन जाल अवश्य है कि फिर इससे निकलना असंभव हो जाता है। उस विद्वान्के हृदयमें मलिनता या बुद्धिमें निर्बलता समझनी चाहिये जो कि सप्तभंगीको असत्य या अनावश्यक समझता है।

इसी सप्तभंगीको खण्डित करनेके लिये स्वामी शङ्कराचार्यजीने वेदांतसूत्रके शाङ्करभाष्यमें प्रयत्न किया है किंतु सप्तभंगीको समझ कर यदि कोई विद्वान् शाङ्करभाष्यकोदेखेगा तो अवश्य यह कहेगा कि शंकराचार्यजीने सप्तभङ्गीको समझा नहीं था। उन्होंने अपनी दिग्विजयमें जैन-आचार्योंके साथ शास्त्रार्थमें क्या फल पाया होगा ? इसको तो शङ्कराचार्य ही समझें किंतु हम तो उनकी लेखनीसे लिखे हुये शांकरभाष्य (अध्याय २ पाद २ सूत्र ३३-३४-३५-३६) देखकर यह समझ सकते हैं कि शङ्कराचार्यजीने सप्तभङ्गीको पूरे तौरसे नहीं समझ पाया था। फिर उन्होंने उसे शास्त्रार्थमें कैसे खण्डित कर पाया होगा ? अस्तु। इसी विषय पर कुछ प्रसिद्ध विद्वानोंकी सम्मतियोंका निरीक्षण कीजिये—

श्रीयुत महामहोपाध्याय सत्यसंप्रदायाचार्य पं० स्वामी राममिश्रजी शास्त्री, प्रोफेसर संस्कृतकालेज बनारस, अपने भाषणमें कहते हैं कि—

मैं आपको कहां तक कहूं, बड़े बड़े नामी आचार्योंने (शङ्कराचार्य-सरीखोंने) अपने ग्रन्थोंमें जो जैनमत खण्डन किया है वह ऐसा किया है, जिसे सुन-देख कर हँसी आती है। स्याद्वादका यह (जैनधर्म) एक अभेद्य किला है उसके अंदर वादी, प्रतिवादियोंके मायामय गोले नहीं प्रवेश कर सकते।

महामहोपाध्याय पं० गङ्गानाथजी झा एम० ए० डी० एल० एल० इलाहाबाद, कितने स्पष्ट कहते हैं कि—

जबसे मैंने शङ्कराचार्यद्वारा जैनसिद्धांत पर खण्डन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धांतमें बहुत कुछ है, जिसको वेदांतके आचार्यने नहीं समझा और जो कुछ मैं अब तक जान सका हूं उससे मेरा यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि यदि वह (शंकराचार्य) जैनधर्मको उसके असली ग्रन्थोंसे देखनेका कष्ट उठाते तो उनको जैनधर्मके विरोध करनेकी कोई बात नहीं मिलती।

पूनाके प्राच्यविद्यामहार्णव, प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता, डाकृर भांडारकर-जीने भी सप्तभङ्गीतरङ्गिणी नामक जैनग्रन्थको देख कर स्पष्ट ऐसा आशय लिखा है कि—

शङ्कराचार्यने सप्तभङ्गीको समझा नहीं था उन्होंने उसे बिना समझे उसका खण्डन करनेका साहस किया।

न्यायशील प्रेमी महाशयो! विचारिये, जब कि शङ्कराचार्यको अपना सर्वस्व माननेवाले ब्राह्मणसमाजके उपर्युक्त विद्वान् स्वामी शङ्कराचार्य द्वारा किये हुये सप्तभङ्गीके खण्डनको स्पष्ट तौरसे अयुक्त कह रहे हैं तब स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीका, जिन्होंने कि पद-पदपर भूलोंसे टक्करें खाई हैं; सप्तभङ्गीको असत्य लिखना कितना वज़न रख सकता है?

यहीं पर हम अवसर देखकर इतना और लिख देना आवश्यक समझते हैं, कि स्वामीजीने जो सत्यार्थप्रकाशके ११ वें समुल्लासमें ३०४ वें पृष्ठपर शङ्कराचार्यका वर्णन करते हुए लिखा है कि "शङ्करा-चार्यने सुधन्वा राजाकी सभामें अन्य अनेक स्थानोंपर जैनधर्मका खंडन करके जैनियोंको हराया। उस समय दो जैन कपट-मुनियोंने शङ्करा-चार्यकी मायाचारसे शिष्यता स्वीकार करके शङ्कराचार्यको विष देकर मार डाला"। स्वामीजीका यह लिखना असत्य है; क्योंकि प्रथम तो हमने आनन्दगिरिकृत तथा माधवाचार्यविरचित शङ्करदिग्विजय देखा तो उसमें यह कहीं भी नहीं मिला कि शङ्कराचार्यने अमुक जैन-विद्वान्से शास्त्रार्थ किया इससे यह बात सिद्ध होती है कि या तो शङ्करा-

किसी जैन-विद्वान्‌के साथ शास्त्रार्थ नहीं किया था किया होगा तो वे अवश्य ही उसमें पराजित हुए होंगे। जिससे कि उन्होंने अपने सामने आये हुए जैनविद्वान्‌का नामतक उल्लेख नहीं किया। यदि शङ्कराचार्यने वास्तवमें जैनधर्मका खंडन करके जैनोंको शास्त्रार्थसे हराया होता, तो जैनधर्म भी, बौद्धधर्मके समान भारतवर्षसे उड़ गया होता। दूसरे इन दोनों दिग्विजयोंमें शङ्कराचार्यके शिष्योंने जो कुछ भी जैनधर्मका खंडन लिखा है उनमेंसे आनन्दगिरिका लिखा हुआ खंडन तो ऐसा है, जिसे देखकर यह मालूम पड़ता है कि इसने किसी जैनमुनि और जैन-शास्त्रके न तो दर्शन किये थे और न उनका थोड़ा भी वृत्तान्त किसी विद्वान्‌से सुना था। उसकी अपेक्षा तो स्वामी दयानन्दजीने बहुत कुछ टीपटाप की है, उसे यह भी पता नहीं कि जैनमुनि कैसे होते हैं और जिनदेव किसे कहते हैं? इस कारण उसके लेखसे ही शङ्कराचार्यजी की जैनधर्मपर विजय मानी जाय, तब तो उलटी शङ्कराचार्यजीकी अनभिज्ञताकी हंसी होती है। इसके सिवाय इस आनन्दगिरिने अपने गुरु शङ्कराचार्यकी उत्पत्ति यों लिखी है, कि शङ्कराचार्यके पिता विश्वजित् अपनी स्त्री विशिष्टाको घर छोड़कर तपस्या करने चले गये थे। किसी पुरुषके संयोग बिना ही विशिष्टाके गर्भमें महादेवजी आगये, जो कि जन्म होते ही शङ्कराचार्यके रूपमें प्रगट हुए। यह भी आनन्दगिरिके असत्य भाषणका ज्वलन्त उदाहरण है।

माधवकृत शङ्करदिग्विजयमें जैनधर्मका खंडन शांकरभाष्यके अनुसार ही किया है। अतः उसके विषयमें भी आपलोग उपर्युक्त विद्वानोंका मत समझ सकते हैं। सबसे प्रधान बात तो यह है कि जब शङ्कराचार्यजी ही स्वयं शांकरभाष्यमें बिना यथार्थ सिद्धान्त समझे जैनधर्मका खंडन लिख बैठे हैं तो उनके शिष्य बेचारे कहांसे भारी युक्ति-कलापसे जैनधर्मको खण्डित करते हुए शङ्करदिग्विजयको उज्ज्वल कर सकते हैं। अतः जिस किसीको भी यह भ्रम हो कि शंकराचार्यने [illegible]का खण्डन किया था, उनसे हमारी सादर प्रेरणा है कि वह

शांकरभाष्यको तथा दोनों दिग्विजयोंको देखकर अपनी शंका मिटा लें। हम शांकरभाष्य तथा दोनों दिग्विजयोंका यह प्रकरण पूरे तौरसे आपके सामने रखना चाहते थे किन्तु विस्तारभयने ऐसा न करने दिया।

शंकराचार्यने इतना अवश्य किया कि राजाओंकी शक्तिका सहारा पाकर अनेक जैन-मन्दिरोंको तथा ग्रन्थोंको नष्ट-भ्रष्ट करके अपना हृदय संतुष्ट किया। शंकराचार्यकी मृत्यु जैन-कपट मुनियों द्वारा होनेकी बात स्वामीजीने सर्वथा असत्य लिखी है, क्योंकि आनंदगिरिने तथा माधव दिग्विजयमें शंकराचार्यकी मृत्युका वृत्तान्त ऐसा लिखा ही नहीं है। शंकराचार्यकी मृत्यु शाक्तभाष्यके कर्ता अभिनवगुप्त द्वारा विष खिलाने पर शंकराचार्यको भगंदर रोग हो जानेसे हुई है, जो कि कुछ दिन पहले शंकराचार्यने शास्त्रार्थमें हराया था। स्वामीजीको सत्य वचनके ऊपर दया दिखला कर परिव्राजकपदकी रक्षा करते हुए जैनधर्मको केवल धब्बा लगानेके लिये ऐसा अनुचित, असत्य लिख मारना उचित न था किंतु मालूम पड़ता है कि स्वामीजीका सत्य बोलना इसी प्रकारका था।

स्वामीजीने अनभिज्ञतावश बहुत गलती की है।

(१७)

प्यारे आर्य भाइयो! सत्यार्थप्रकाशमें स्वामीजीने जैनधर्मकी समालोचना करते समय जैनसिद्धान्तके अज्ञानकारीसे जो भूलें की हैं, सो तो ठीक ही है; किन्तु उनके सिवाय उन्होंने बहुत सी भूलें ऐसी भी की हैं जो कि उनकी साहित्यविषयक विद्वत्ताकी कमीको प्रगट करती हैं। सच्चे समालोचकका कर्तव्य है कि वह जिस विषयको पूरा न समझ पावे, उसकी समालोचनामें बलात हाथ न डाले, क्योंकि ऐसा करनेसे समालोचकको अनेक जगह लेनेके देने पड़ जाते हैं। स्वामीजीने भी अनेक स्थानोंपर संस्कृत भाषाके श्लोकोंका वास्तविक अर्थ न समझ कुछका कुछ कर डाला है। इस विषयको भी आप महाशयोंके सन्मुख प्रगट किया जाता है।

सत्यार्थप्रकाशके ४४२ और ४४३ वें पृष्ठोंपर निम्नलिखित ६ श्लोक मीमांसकोंके हैं, जो कि उन्होंने जैनोंके सन्मुख सर्वज्ञ खण्डनके लिये उपस्थित किये हैं किन्तु स्वामीजी इन्हें ईश्वर-खण्डन विषयमें जैनोंके लिखे हुए समझ बैठे हैं। देखिये—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं या वानुमापयेत्॥ १॥

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः।
न च तत्रार्थवादानां तात्पर्यमपि कल्पते॥२॥

न चान्यार्थं प्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः॥ ३॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान्।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते॥४॥

अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥५॥
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्तिता ।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तराद्धृते ॥६॥

भावार्थ—सर्वज्ञका होना प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता है क्योंकि सर्वज्ञ हम तुमको इस समय दीखता नहीं है। सर्वज्ञका कोई एक देश (भाग) भी मौजूद नहीं है जो कि साधनरूप होकर सर्वज्ञका अनुमान करा दे ॥१॥ नित्य आगम जो वेद है उसकी कोई श्रुति भी ऐसी नहीं है, जो सर्वज्ञका बोध करावे। याग अर्थको कहनेवाले मन्त्रोंका अभिप्राय भी सर्वज्ञकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये लागू नहीं हो सकता है ॥२॥ याग, स्तोत्र आदि अन्य अन्य अर्थोंको कहने हीमें प्रधान (तत्पर) उन श्रुतियोंसे भी सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नहीं होता। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि पहले अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे असिद्ध सर्वज्ञ आगमसे कहा भी नहीं जा सकता ॥३॥ वेदका अर्थ सर्वज्ञसिद्धिके लिये इस कारण भी ठीक नहीं, कि वेद अनादि है और सर्वज्ञ सादि। कृति (पौरुषेय) शास्त्र तो असत्य होनेके कारण सर्वज्ञकी सत्ता यथार्थ रीतिसे बतला ही कैसे सकता है ॥४॥ यदि यों माना जाय कि सर्वज्ञके वचनोंसे ही सर्वज्ञकी मौजूदगी सिद्ध हो जायगी सो भी अन्योन्याश्रय-दोषसे दूषित होनेके कारण ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ जब सिद्ध होवे तब उसका वचन प्रामाणिक समझा जाय और उस वचन द्वारा सर्वज्ञ-की सिद्धि होवे तथा सर्वज्ञकी प्रमाणता सिद्ध हुए विना सर्वज्ञ और उसके वचन ये दोनों बातें कैसे सिद्ध हो सकती हैं ॥५-६॥

इस प्रकार ये ६ श्लोक मीमांसकोंने जैनोंके सामने सर्वज्ञकी सत्ता उड़ा देनेके लिये कहे हैं, जैसा कि ऊपर लिखे अनुसार उनका अभिप्राय भी पूरे तौरसे निकलता है किन्तु स्वामीजीने इस अभिप्राय तक न पहुंचकर यह समझ लिया कि जैनियोंने सृष्टिकर्ता ईश्वरको असिद्ध करनेके लिये ईश्वरवादियोंके सन्मुख कहे हैं। ऐसा समझ उन्होंने इन

श्लोकोंका अर्थ बहुत गलत किया है। तीसरे श्लोकके "अन्यार्थप्रधानैस्तैः" इस पदका अर्थ "अन्यार्थप्रधान अर्थात् बहुव्रीही समासके तुल्य" कर दिया है ऐसा ऊटपटांग अर्थ स्वामीजीका हास्य करता है। शायद आप लोगोंको ध्यान होगा कि जैनियोंका और आर्यसमाजका जो पहला शास्त्रार्थ फीरोजाबादमें हुआ था, उसमें आर्यसमाजकी इन्हीं श्लोकोंके इस विपरीत अर्थके कारण हार हुई थी उस समय सभाके बीचमें स्वर्गीय पं० ठाकुरप्रसादजीने जो कि आर्यसमाजकी ओरसे शास्त्रार्थ करते थे स्पष्ट कह दिया कि "मैं क्या करूं स्वामी दयानन्दजीने ही इन श्लोकोंका अर्थ करनेमें भूल की है"। अतः ये श्लोक सत्यार्थप्रकाशमें जबतक मौजूद रहेंगे तबतक स्वामीजीकी विद्वत्तापर धब्बा लगाते रहेंगे।

सन् १८८४ का प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ नं० ४४७।

भुङ्क्ते न केवलं न स्त्रीं मोक्षमेति दिगम्बरः।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेताम्बरैः सह॥

इसका अर्थ स्वामीजी लिखते हैं कि "दिगम्बरोंका श्वेताम्बरोंके साथ इतना ही भेद है कि दिगम्बर लोग स्त्रीसंसर्ग नहीं करते और श्वेताम्बर करते हैं।" स्वामीजीने इस श्लोकका अर्थ यही ठीक समझा था; क्योंकि उनके स्वर्गवास हो जाने पर भी सन् १८८४ के सत्यार्थप्रकाशमें यही छप चुका है; स्वामीजीका स्वर्गवास शायद सन् १८८३ में हुआ है। अस्तु। अब यह विचार कीजिये कि उपर्युक्त श्लोकका जो अर्थ स्वामीजीने किया है, वह उनकी विद्वत्ताकी कितनी हसी कराता है। आप लोगोंमेंसे जो आगरा, मथुरा, देहली, अलीगढ़ आदि यू० पी० में रहते हैं, उन्हें दिगम्बर जैनोंके रहन-सहनका पूरा पता होगा; बल्कि हम तो यह समझते हैं कि स्वामीजी भी दिगम्बर जैनियोंसे परिचित होंगे ही। क्या आपने दिगम्बर जैनोंको ब्रह्मचारी ही देखा है? गृहस्थ नहीं देखा? जिससे कि स्वामीजीका उपर्युक्त अर्थसंगत बैठ जाय। जिसने थोड़ी भी संस्कृत भाषा पढ़ी होगी, वह कह देगा कि यह अर्थ

बिलकुल गलत है क्योंकि "दिगम्बर लोग स्त्रीसंसर्ग नहीं करते" यह अर्थ इस श्लोकमेंसे किसी भी तरह नहीं निकल सकता है। भुङ्क्ते शब्दसे संभोग करना अर्थ स्वामीजीकी कितनी हंसी कराता है।

श्लोकका अर्थ यह है कि "केवली यानी जीवन्मुक्त आत्मा भोजन नहीं करते हैं और स्त्री मोक्षको नहीं प्राप्त करती है ऐसा दिगम्बर मानते हैं और इसके विरुद्ध श्वेतांबर मानते हैं। यही इन दोनों दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें भेद है।" यद्यपि स्वामीजीका किया हुआ खास अर्थ आपने स्वामीजीकी भूल छिपानेके लिये बदल दिया है; किन्तु फिर भी वह अभी तक गलत है। उसमें 'केवल' न भूङ्क्ते' इसका कुछ भी अर्थ नहीं लिखा है।

इसी प्रकार स्वामीजीने और श्लोकोंका अभिप्राय भी उलट फेरसे निकाला है, जो कि उनकी भारी भूलपर प्रकाश डालता है। बन्धुओ! वास्तवमें बात यह है कि यदि स्वामीजीकी विद्वत्ताकी निर्मल और सत्यार्थप्रकाशमें सत्यप्रकाश रखना है तो इस बारहवें समुल्लासको सत्यार्थप्रकाशसे पूरा निकाल डालिये।

सभ्यभाषणके ४-६ नमूने।

१८

सज्जनो! स्वामीजीने जैनियों पर एक यह आक्षेप किया है, कि जैन लोग अजैन पुरुषोंके लिये अपशब्दोंका प्रयोग किया करते हैं, जैसा कि उन्होंने सत्यार्थप्रकाशके ४६८वें पृष्ठ पर लिखा है कि "तुम्हारे मूल पुरुषोंसे लेके आज तक जितने हो गये और होंगे, उन्होंने विना दूसरे मतको गालिप्रदानके अन्य कुछ भी दूसरी बात न की और न करेंगे।" इसके उत्तरमें हम केवल यही लिख देना चाहते हैं कि जैन लोग जो दूसरे मतानुयायियोंको गालिप्रदान करते हैं, यह तो स्वामीजी बहुत शीघ्र लिख गये; किंतु उन्होंने अपनी लेखनीसे अन्यमतावलंबियोंके,

उनके गुरु, विद्वानों आदिके लिये जो सभ्यतासे बहिर्भूत शब्दावली निरंकुशताके साथ लिख डाली है, उसे उन्होंने कुछ नहीं देखा। स्वामीजी जैसे अपनेको परमहंस परिव्राजक समझते थे, उसी तरह वे अपनेको दूसरोंके लिये एक नम्बरका सभ्यवक्ता भी मानते होंगे। अन्य मतानुयायियोंके प्रति उन्होंने कैसे मनोहर सभ्य शब्दोंका प्रयोग किया है? इसका हम विशेष उल्लेख करना व्यर्थ समझते हैं। इस विषय पर प्रकाश डालनेके लिये सारा सत्यार्थप्रकाश पड़ा है, जिसमें कि अपने सिवाय शेष सभी विद्वानोंको मूर्ख, विद्याके कट्टर शत्रु, बकरी चरानेवाला, भोंदू, भटिआरेका टट्टू आदि शब्दोंसे पुकारा है। स्वामीजी इस बातको यहां तक ले गये हैं, कि जैनोंके ईश्वर तीर्थंकरोंको भी उन्होंने अविद्वान् लिखना नहीं छोड़ा है। स्वामीजीको कमसे कम ऐसे स्थानों पर तो अपनी लेखनीको लगाम चढ़ानी चाहिये थी; किंतु उन्होंने ऐसा करना अपनी सभ्यतासे बाहरकी बात समझी। अस्तु। संसारमें जैन-तीर्थङ्कर कितने परमपूज्य हैं, इसके लिये हम एक अजैन विद्वान्की लिखित सम्मति साररूपमें उद्धृत करते हैं।

प्रसिद्ध शिवव्रतलालजी वर्मन, एम० ए० जो कि साधु, सरस्वती-भंडार, तत्वदर्शी, मार्तण्ड, सन्तसन्देश आदि उर्दू तथा हिंदी पत्रोंके सम्पादक और अनेक ग्रन्थोंके मूल लेखक तथा अनेकके अनुवादक हैं। महावीरस्वामीका पवित्र जीवन यों लिखते हैं—

"गए दोनों जहान नजरसे गुजर, तेरे हुस्नका कोई बशर न मिला"

यह (महावीर तीर्थंकर) जैनियोंके आचार्यगुरु थे, पाकदिल, पाकखयाल, मुजस्सम-पाकीज़गी थे। हम इनके नाम पर, इनके कामपर और बेनजीर नफसकुशी व रिआज़तकी मिसाल पर जिस कदर नाज (अभिमान) करें बजा है। हिंदुओ! अपने इन बुजुर्गोंकी इज्जत करना सीखो ...... तुम इनके गुणोंको देखो, उनकी पवित्र मूर्तोंका दर्शन करो, उनके भावोंको प्यारकी निगाहसे देखो, वह धर्म-कर्मकी झलकती हुई, चमकती-दमकती मूर्तें हैं ...... उनका दिल विशाल था, वह एक

बेपायाकिनार समन्दर था, जिसमें मनुष्यप्रेमकी लहरें ज़ोर-शोरसे उठती रहती थीं और सिर्फ मनुष्य ही क्यों उन्होंने संसारके प्राणीमात्रके लिये सबका त्याग किया, जानदारोंका खून बहता रोकनेके लिये अपनी जिन्दगीका खून कर दिया। यह अहिंसाकी परमज्योतिवाली मूर्तियां हैं।

ये दुनियांके जबरदस्त रिफार्मर जबरदस्त उपकारी और बड़े ऊंचे दर्जेके उपदेशक और प्रचारक गुजरे हैं। यह हमारी कौमी तवारीखके कीमती रत्न हैं। तुम कहां और किनमें धर्मात्मा प्राणियोंकी खोज करते हो? इन्हींको देखो, इनसे बेहतर साहबे कमाल तुमको और कहां मिलेंगे। इनमें त्याग था, इनमें वैराग्य था, इनमें धर्मका कमाल था, यह इन्सानी कमजोरियोंसे बहुत ऊंचे थे। इनका खिताब "जिन" है, जिन्होंने मोहमायाको और मन और कायाको जीत लिया था, यह तीर्थङ्कर हैं। इनमें बनावट नहीं थी, दिखावट नहीं थी, जो बात थी साफ-साफ थी। ये वह लासानी शखसीयतें हो गुज़री हैं, जिनको जिसमानी कमजोरियों व ऐबोंको छिपानेके लिये किसी ज़ाहिरी पोशाककी जरूरत लाहक नहीं हुई; क्योंकि उन्होंने तप करके, जप करके, योगका साधन करके, अपने आपको मुकम्मिल और पूर्ण बना लिया था। इत्यादि,

प्यारे आर्यबन्धुओ! यह तो एक निष्पक्ष अजैन विद्वानकी सम्मति है, जो कि उसने श्रीमहावीर तीर्थङ्करके पवित्र जीवनपर प्रकाश डालने के लिये लिखी है; किन्तु आप भारतवर्षके इतिहासको जा कर भी जरा पूछिये कि जैन-तीर्थंकरोंने कितने महत्त्वशाली कार्य किये थे। वह भी आपको संतोषजनक उत्तर देगा। भारतवर्षमें, जिस समय वैदिकधर्म सर्वत्र फैल गया था, तब स्वार्थान्ध पुरोहितोंकी प्रेरणासे अज्ञानी महान्ध यजमान वेदमन्त्रोंद्वारा वैदिकयज्ञ कराते थे, उसमें हजारों बकरे, बकरी, गाय, घोड़े यहांतक कि मनुष्य भी मारकर हवन कर दिये जाते थे। खूनकी नदियां बहती थीं, मांसकी लोथें यज्ञशालाओं-

में सर्वत्र पड़ी फिरती थीं, दूसरे जीवोंके प्राण फजफूलकी तरह समझे जाते थे अपनी उदर-पूर्तिके लिये वेदोंमें सैकड़ों मंत्र, गोवध, अश्वधध, अजवध, मांसभक्षणके लिये मिलाकर वेदोंको, ईश्वरको, तथा अन्यान्य देवी-देवताओंको बदनाम किया जाता था। उस समय इन श्रीमहावीर तीर्थंकरकी वीरताका ही प्रभाव पड़ा, कि ऐसे भयानक, दुष्ट अत्याचार भारतवर्षसे उड़कर अहिंसाधर्मका झंडा फहराया और अनाथ निरपराध पशुओंको निर्भय बनाया। स्वामीजीको इन उपकारों का ध्यान रखकर, जैन-तीर्थंकरोंका आभार मानकर उनकी हृदयसे प्रशंसा करनी चाहिये थी; किन्तु स्वामीजीने ऐसा नहीं किया सो तो एक ओर रहा; किन्तु स्वामीजीने उलटा उन सभ्य शब्दोंसे उनका आदर किया, जो कि सत्पुरुषके सर्वथा अयोग्य है।

माननीय स्वर्गवासी भारतीयनररत्न, लोकमान्य बालगंगाधर तिलकने बड़ौदाके व्याख्यानमें कहा था—

"पूर्वकालमें यज्ञके लिये असंख्य पशुहिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रंथोंसे मिलते हैं......परन्तु इस घोर हिंसाका ब्राह्मणधर्मसे विदाई ले जानेका श्रेय जैनधर्मके हिस्सेमें है। ब्राह्मणधर्मको जैनधर्महीने अहिंसाधर्म बनाया। ब्राह्मण व हिंदू-धर्ममें जैनधर्मके ही प्रतापसे मांसभक्षण व मदिरापान बन्द हो गया।......ब्राह्मणधर्म जैनधर्मसे मिलता है इस कारण टिक रहा है। बौद्धधर्म जैनधर्मसे विशेष अमिल होनेके कारण हिन्दुस्थानसे नाम-शेष हो गया।"

आप लोग बुद्धिमान, विचारशाली हैं। इस कारण आपके सामने यह संकेत ही बहुत है, आप लोग इसी संकेतसे सब कुछ खोज सकेंगे ऐसी पूर्ण आशा है। अन्तमें नम्र निवेदन यह है कि यह पुस्तक प्रेमभावनासे लिखी गई है। प्रमादवश यदि कहीं कोई भूल हो गई हो तो तदर्थ क्षमाप्रार्थना है।

सिंहावलोकन

(१६)

प्रिय मान्यवर मित्रो ! मैंने आपके सामने जो कुछ भी निवेदन किया है। उसका सार वक्तव्य इस प्रकार है—

१—जैनधर्ममें ईश्वर, जीव, पुण्य, पाप, नरक, स्वर्ग, मोक्ष माने गये हैं। अतः वह आस्तिक धर्म है; नास्तिक नहीं।

२—ईश्वर एक पवित्र आत्मा है, वह अनन्त शक्तिमान है, सर्व-शक्तिमान नहीं; क्योंकि प्रकृतिविरुद्ध कार्योंके करनेकी शक्तियां उसमें नहीं हैं। निराकार, अमूर्तिक, सर्वव्यापक यदि ईश्वर माना जाय तो वह मूर्तिक जगतको बनानेवाला नहीं है; क्योंकि अमूर्तिक, सर्व-व्यापक पदार्थसे मूर्तिक-पदार्थको हरकत पहुंचाना नियमविरुद्ध है। निर्विकार, पवित्र होनेके कारण भी ईश्वर संसारका कर्ता-हर्ता नहीं है; क्योंकि ये बातें किसी मतलबसे राग या द्वेषपूर्वक की जाती हैं।

३—जीव कर्मोंके बन्धनमें फंसा हुआ है शराब पी कर अचेत होनेवाले मनुष्यके समान जीव कर्मोंको प्रायः स्वतंत्रतासे बांधकर उसके नशेमें पड़कर सुख-दुःख पाता है।

४—वेद अनेक ऋषियोंकी कविताका संग्रह है। कविता करते समय गाय, भेड़, घोड़ा, स्त्री, अग्नि, बालक, नदी आदि जो पदार्थ जिस ऋषिको दीख पड़ा, उसीका विषय लेकर कविता बनाकर वेदमें रख दी या जिस ऋषिको जो इच्छित कार्य दीखा उसके सहारे किसी देवताकी स्तुतिमें कविता रचकर वेदमें सम्मिलित कर दी; क्योंकि मूलवेदोंसे ये सब बातें प्रगट होती हैं। वेदोंमें मांसभक्षण, मदिरापान, गोवध, अश्ववध, अजवध तथा नरवध आदि पापकार्योंकी प्रेरणा देकर करानेके मन्त्र हैं और वे वेद पुस्तकरूपमें हैं। इसलिये उनका रचयिता पवित्र, निराकार ईश्वर नहीं है।

५—जैनधर्म इस भूमण्डलपर बौद्धधर्मसे लाखों वर्ष पहले विद्य-

मान था। इस कारण तथा बौद्धधर्मके साथ भारी सिद्धान्तभेद होनेके कारण जैनधर्म न तो बौद्धधर्मकी शाखा है और न जैनधर्म, बौद्धधर्म एक ही हैं।

६—वेदोंका निर्माण-प्रारंभ अनुमानसे रामचन्द्र लक्ष्मणके समयमें हुआ है, क्योंकि विश्वामित्र ऋषि इसी समय हुये हैं। इनके पुत्र मधुच्छन्दसूने वेदोंका प्रारंभ किया है। अतः वैदिकधर्मका उत्पत्तिसमय यही माना जा सकता है। जैनधर्म इस समय भी था; क्योंकि वेदोंके अनेक मंत्रोंमें तथा इस समयके बने हुए अनेक ग्रंथोंमें जैनतीर्थङ्करोंका नाम उल्लिखित है तथा जैनधर्मके जन्मदाता प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथजी हैं, वे रामचन्द्र लक्ष्मणसे लाखों करोड़ों वर्ष पहले हुए थे, इस कारण जैनधर्म समस्त धर्मोंसे पुरातन है।

७—मूर्तिका अच्छा या बुरा प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, मूर्तिके सहारेसे मनके भाव बिगड़-सुधर जाते हैं। परमात्मा सरीखी पवित्रता पानेके लिये मुक्तिगामी परमात्माकी मूर्तिका पूजा-सत्कार करनेसे हृदय पर पवित्रताकी छाया पड़ती है। इस कारण मूर्तिपूजन आवश्यक है। परमात्माके सर्वव्यापकत्वमें कोई भी अटल प्रमाण नहीं है।

८—मुक्तिका अर्थ कर्मबन्धनसे छूट जाना है; इस कारण कर्मबन्धन तोड़कर मुक्ति मिलती है मुक्त अवस्थामें ईश्वरके समान सुख, ज्ञान, स्वभाव हो जाते हैं। राग-द्वेषादिक विकार न होनेसे मुक्तजीवको कर्मबन्धन नहीं होता है और बंधनके विना वहांसे लौटना नहीं हो सकता। जीवोंकी संख्या अनंत है, इसलिये मुक्ति पाते रहनेपर भी संसार कदापि जीवशून्य नहीं होगा।

९—जानना जीवका स्वभाव है। उस स्वभाव पर कर्मका पर्दा पड़ा है, जिस समय वह हट जाता है, जीव पूर्णज्ञाता हो जाता है; क्योंकि प्रतिबन्धक हट जाने पर पदार्थका स्वभाव पूर्ण प्रगट हो जाता है। जैसे, सूर्यका प्रकाश। पुरुषके ज्ञानकी कोई निश्चित सीमा नहीं है;

क्योंकि किसी एक मर्यादा तक ज्ञानको निश्चित करनेमें कोई निश्चल प्रमाण नहीं है। अतः पुरुष अल्पज्ञसे सर्वज्ञ हो सकता है।

१०—भूगोलके सिद्धांत प्रत्यक्ष देख कर नहीं बने हैं, केवल अनुमानसे कल्पित हुए हैं। अतः वे अनिश्चित हैं यूरोपवासी कुछ विद्वान् जैनधर्मके कहे अनुसार थाली समान गोल, स्थिर पृथ्वीको तथा सूर्यको भ्रमण करनेवाला सिद्ध करनेके लिये प्रयत्न कर रहे हैं। अतः जैनधर्मका भूविषयक-सिद्धांत असत्य और भूगोलसिद्धांत सत्य नहीं कहा जा सकता है।

११—पूर्व समयमें मनुष्योंका तथा इतर प्राणधारियोंका बल-पराक्रम आजकलकी अपेक्षा सैकड़ों हजारों गुणा बढ़ा-चढ़ा होता था उनका शरीर और आयु भी बहुत विशाल होती थी। जैनतीर्थङ्कर बहुत प्राचीन समयमें हुए हैं। अतः उनके शरीर और आयुका प्रमाण भी बहुत बड़ा था।

१२—स्वामीजी संस्कृतके अच्छे विद्वान् और बालब्रह्मचारी थे। साथ ही परोपकर्ता अनेक सद्गुणसम्पन्न भी थे। ये बातें वेदभाष्य आदिको देखनेसे मालूम होती हैं, किंतु "अनंतपारं किल शब्दशास्त्रं स्वल्पं तदायुर्बहवश्च विघ्नाः" (यानी शब्दभण्डार अपार है किंतु मनुष्यकी आयु थोड़ी है सो भी रोग, शोक, खाने-पीने, सोने आदि विघ्नोंसे भरी पड़ी है) के अनुसार शीघ्रतामें जैनधर्मसे संतोषजनक संक्षेप परिचय भी नहीं पा सके, इस कारण अनभिज्ञतावश उन्हें जैनधर्मके विषयमें असत्य, निर्मूल आक्षेप करने तथा उसके सर्वप्राचीन उन्नत गौरवको ढकनेका यत्न करना पड़ा।

सदाकत छिप नहीं सकती बनावटके उसूलोंसे।
कहीं खुशबू है आ सकती कहो कागजके फूलोंसे? ॥

अलमिति प्रज्ञाघनेषु।

"स्वामी दयानन्दजी सरस्वतीके मधुर-भाषणका नमूना"

(लेखक—श्रीयुत पं० कंछेदीलालजी न्यायतीर्थ)

(१) "आंखके अन्धे गांठके पूरे उन दुर्बुद्धी पापी स्वार्थी"
(पृष्ठ ३१—सत्यार्थ प्रकाशका)

(२) "वाह रे, झूठे वेदान्तियो" (पृष्ठ २३५)

(३) "वाह रे, गड़रियेके समान झूंठे गुरु" (पृष्ठ २८०)

(४) "जिसको हृदयकी आंखें फूट गई हों"। (पृष्ठ २९२)

(५) "उन निर्लज्जोंकी जरा भी लज्जा नहीं आई" (पृष्ठ २९८)

(६) "मुनि वाहन भंगीकुलोत्पन्न यावनाचार्य यवनकुलोत्पन्न शठकोप नामक कंजर" (पृष्ठ २९९)

(७) "अन्धे धूर्त" (पृष्ठ ३०५)

(८) "भठियारेके टट्टू कुंभारके गधे" (पृष्ठ ३१२)

(९) "ऐसे गुरु और चेलोंके मुखपर धूल और राख पड़े"
(पृष्ठ ३३६)

(१०) "तुम भाट और खुशामदी चारणोंसे भी बढ़कर गप्पी हो।"

(११) "भांड़ धूर्त निशाचरवत् महीधरादि टीकाकार हुए हैं।"
(पृष्ठ ४०२)

(१२) सबसे वैर-विरोध, निन्दा, ईर्षा आदि दुष्ट कर्मरूप सागरमें डुबानेवाला जैनमार्ग है। जैसे जैनी लोग सबके निंदक हैं वैसा कोई भी दूसरे मतवाला महानिंदक और अधर्मी न होगा (पृष्ठ ४३१)

(१३) "पाखंडोंका मूल ही जैनमत है" (पृष्ठ ४४०)

(सत्यार्थप्रकाश सन् १८८४)

नोट—इस स्वामीजीकी लेखमालासे मालूम होता है कि स्वामीजी को जैनधर्म आदि धर्मोंसे कैसा प्रबल द्वेष था। उपर्युक्त अपशब्दावली स्वामीजीके पांडित्यको हमेशाके लिये कलङ्कित करनेवाली है। इति